भारतीय काव्यशास्त्र की रूपरेखा



लेखक

डॉ० योगेन्द्र प्रताप सिंह

प्रोफेसर, हिन्दी विभाग

एवं

निदेशक, पत्राचार एवं सतत शिक्षा संस्थान

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

श्यामा प्रकाशन संस्थान

408-ए/15 जी बक्शी खुर्द

दारागंज, इलाहाबाद—211006

वितरक
विद्या सागर
11 युनिवर्सिटी रोड, इलाहाबाद–211002

प्रकाशक
श्यामा प्रकाशन संस्थान
408-ए/15 जी बकशी खुर्द
दारागंज, इलाहाबाद 211006



प्रथम संस्करण 1992



मूल्य 70.00 रुपये



मुद्रित
अभय कुमार जायसवाल
मिलन प्रिंटिंग प्रेस
233, नया ममफोर्डगंज
इलाहाबाद–2

बन्धुवर अग्रज श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय
एडवोकेट, हाईकोर्ट को
सादर भेंट

भूमिका

संस्कृत साहित्य के अन्तर्गत काव्यशास्त्रीय चिन्तन का एक स्पष्ट एवं व्यवस्थित क्रम ईसा पूर्व की शतियो से प्रारम्भ होकर 17वी शती तक निर्बाध रूप से चलता रहा है। इन 17-18 सौ वर्षो में काव्य की मूलभूत समस्याओं को अनेक रूपो मे विवेचित किया गया है। इस विवेचन में मूल समस्या विवेच्य विषय की प्रामाणिकता की है। हिन्दी साहित्य की आधारभूमि के रूप में इस शास्त्रीय चिन्तन का जितना ही स्पष्ट तथा प्रामाणिक विवेचन किया जाएगा, उससे मध्यकालीन काव्य चिन्तन की दृष्टि को समझने मे उतनी ही अधिक मदद मिलेगी। यह सत्य है कि आज भारतीय काव्यशास्त्र पर अनेकानेक पुस्तकें उपलब्ध हैं, किन्तु विषय-विवेचन की प्रामाणिकता पर प्रश्न चिह्न लगा हुआ है। इस पुस्तक के माध्यम से यह प्रयास किया गया है कि समग्र भारतीय काव्यचिन्तन की ऐतिहासिक सामग्री के अन्तर्गत उठाये गये विन्दुओ का प्रामाणिक तथा स्पष्ट रेखांकन किया जाए। इस दृष्टि से, लेखक के श्रम की सार्थकता तभी पूर्ण समझी जाएगी, जब भारतीय काव्यशास्त्र के अध्येताओ की जिज्ञासा की शान्ति तथा समाधान इसके द्वारा हो सके।

योगेन्द्र प्रताप सिंह
प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

दीपावली
25 अक्टूबर, 1992

अनुक्रम

[redacted]

1

भारतीय काव्यशास्त्र का सम्प्रदायमूलक इतिहास

भारतीय काव्यशास्त्र कितना प्राचीन है, इस तथ्य का अनुमान प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर लगाया जा सकता है। आचार्य भरत कृत नाट्यशास्त्र एवं राजशेखर-कृत काव्य मीमांसा को यदि साक्ष्य माना जाए तो निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इसका जन्म अनेक शास्त्रों एवं विद्याओं की प्रतिष्ठा के बाद हुआ। उक्त दोनों साक्ष्य इस ओर इंगित करते हैं कि काव्यशास्त्र मूलतः संकलनात्मक प्रयत्नों का परिणाम है। यह संकलनात्मक प्रवृत्ति धीरे-धीरे विकसित हुई है। नाट्यवेद की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे भरत का अभिमत है कि इसके विविध तत्त्वों का संकलन विविध स्रोतों से हुआ, तण्डु ऋषि ने ताण्डव नृत्य दिया, भगवती पार्वती ने लास्य दिया, इन्द्र ने इन्द्रध्वज दिया आदि। यही नहीं, नाट्य संकलनकर्ता ने परम्परित आर्षग्रन्थों से भी विविध सामग्रियाँ संकलित की—

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्योगीतमेव च।
यजुर्वेदानभिनयान् रसान् अथर्वणादपि॥

इस प्रकार नाट्यवेद के विविध तत्त्वों एवं अपेक्षित उपकरणों का संचयन विविध स्रोतों से हुआ। काव्यशास्त्र के सम्बन्ध में राजशेखर भी ऐसी धारणा की पुष्टि करते है। उनके अनुसार अन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता, दण्डनीति ये चार विद्याएँ परम्परा मे प्रचलित थी, इनकी पूर्व प्रतिष्ठा के पश्चात् पाँचवी साहित्य विद्या की प्रतिष्ठा हुई—

पंचमी साहित्यविद्या इति यायावरीयः

अर्थात्, आचार्य यायावरीय (राजशेखर) बताते हैं कि पांचवी विद्या का नाम साहित्य विद्या है और यह अपने आपके एक आचार्य विशेष के सुनियोजित प्रयत्न का परिणाम न होकर अनेक आचार्यों द्वारा सुनियोजित प्रयत्नों का प्रतिफल है। काव्य-

शास्त्र के विविध अंगो के विविध उद्भावक आचार्य है—इन आचार्यों एवं उनके द्वारा अन्वेषित तथा स्थापित काव्यशास्त्रीय चिन्तन के सिद्धान्तो का क्रम इस प्रकार है—

(1) इन्द्र — कवि रहस्य
(2) उक्तिभद्र — उक्ति विषयक सिद्धान्त ग्रन्थ
(3) सुवर्णनाभ — रीतिशास्त्र
(4) प्रचेता — अनुप्रास
(5) यम — यमक
(6) चित्रागद — चित्रकाव्य
(7) शेष — शब्दश्लेष
(8) पुलस्त्य — स्वाभावोक्ति
(9) औपम्यायन — उपमा
(10) पराशर — अतिशयोक्ति
(11) उतथ्य — अर्थश्लेष
(12) कुबेर — उभयालंकार
(13) कामदेव — विनोद आदि के प्रसंग
(14) भरत — नाट्यशास्त्र
(15) नन्दिकेश्वर — रस
(16) धिषण — दोष
(17) उपमन्यु — गुण
(18) कुचमार — औपनिषदिक-प्रकरण

इन विविध आचार्यों के विविध मतो का विकास, विस्तार तथा समन्वयन क्रमशः होता रहा और यह शास्त्र इसी समन्वयन का प्रतिफल है। सामान्य परम्परा के अनुसार आचार्य वृहस्पति ने सर्वप्रथम काव्यशास्त्र विषयक ग्रन्थ का प्रणयन किया था, किन्तु उनके ग्रन्थ का साक्ष्य मात्र उद्धरण तक ही सीमित रह गया है।

सामान्य रूप से भारतीय काव्यशास्त्र के विविध सिद्धान्तो के अनुक्रम में उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का निर्देशन किया जा सकता है, ये सिद्धान्त हैं—(1) रस, (2) अलंकार, (3) रीति, (4) गुण आदि। इनके विषय में प्राप्त टिप्पणियों के आधार पर भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास की प्राचीनता के विषय मे आकलन किया जा सकता है।

रस सम्प्रदाय :—इस सिद्धान्त के आदि आचार्य नन्दिकेश्वर बताए गए है, ये नन्दिकेश्वर शिव के प्रमुख गण एवं रस तथा संगीत के उद्भावक आचार्य थे। आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र के अन्तर्गत इनकी प्रमुखता के कारण इन्हे नाट्य के अन्तर्गत सर्वप्रमुख स्थान दिया और यही कारण है कि संस्कृत के नाटकों में सूत्रधार

के आगमन के पूर्व "नान्दी पाठ" की व्यवस्था मिलती है। आचार्य नन्दिकेश्वर के पश्चात् रस के सम्बन्ध में आचार्य द्रुहिण का नामोल्लेख मिलता है। नाट्यशास्त्र में कतिपय सूत्रो एवं आनुवंश्य श्लोको की रचना का श्रेय आचार्य द्रुहिण को ही दिया जाता है। शारदातनय कृत भाव प्रकाशन मे बताया गया कि रस सिद्धान्त आचार्य वासुकि द्वारा स्थापित एवं नारद द्वारा प्रचारित किया गया। इस प्रकार सम्पूर्ण सिद्धान्तों में रस का स्थान सर्वोपरि तथा सर्वथा प्राचीन है। इसकी प्राचीनता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि इसका सम्बन्ध अथर्ववेद से जोडा गया। पाणिनि कृत अष्टाध्यायी एवं पतंजलि के महाभाष्य मे इसके उल्लेख वर्तमान हैं। वात्स्यायनकृत कामसूत्र एवं वाल्मीकि रामायण मे रस के अनेक सन्दर्भ निर्दिष्ट हैं। इन साक्ष्यो को देखकर विद्वानों का अनुमान है कि रस सिद्धान्त लगभग 7वी शती ई० पू० में प्रकाश में आ चुका था।

रस के सम्बन्ध में अनेक स्थानो पर बिखरी हुई सामाग्रियो का संकलन करके उसे व्यवस्थित रूप देने का श्रेय आचार्य भरत को है। आचार्य भरत ने प्रथम शती के अन्तर्गत "नाट्यशास्त्र" नामक ग्रन्थ के छठें एवं सातवें अध्यायों के अन्तर्गत रस सम्बन्धी सम्पूर्ण ऐतिहासिक सामग्रियों का संकलन करके उसे व्यवस्था दी।

आचार्य भरत के पश्चात् रस सिद्धान्त के प्रमुख विवेचको के रूप में आचार्य भट्ट लोल्लट, आचार्य शंकुक, आचार्य भट्टनायक, आचार्य अभिनवगुप्त एवं पण्डितराज जगन्नाथ का नामोल्लेख किया जाता है, जिन्होने रस सिद्धान्त के सैद्धान्तिक विवेचन को स्पष्ट करने की दिशा में अनेक प्रयास किये। यही नही, कई नाट्यशास्त्र के ग्रन्थ निरूपक आचार्यों ने भी रस-सिद्धान्त को व्यवस्थित ढंग से विवेचित किया। इन विवेचको मे रामचन्द्र गुणचन्द्र, धनिक, धनंजय आदि प्रमुख हैं। परवर्ती ग्रन्थों में आचार्य रुद्रटकृत रसकर्णिका, शिङ्-भूपाल कृत रसार्णव, भानुदत्त कृत रस मंजरी, आचार्य भोज कृत श्रृंगारप्रकाश, शारदातनय कृत भाव-प्रकाशन, पण्डितराज जगन्नाथ कृत रस गंगाधर, रूपगोस्वामी कृत श्रीहरिभक्त रसामृतसिन्धु, उज्ज्वलनीलमणि का उल्लेख किया जा सकता है। ये सम्पूर्ण ग्रन्थ संस्कृत भाषा मे ईसा की चौथी शती से 17वी शती तक लिखे गये।

हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत रस सिद्धान्त पर ग्रंथ प्रणयन का कार्य सत्तरहवी (17) शती से प्रारम्भ हुआ। इस दिशा में रस सिद्धान्त पर प्राप्त सुविचारित ग्रंथ आचार्य कृपाराम कृत हितरंगिणी है। यद्यपि सूर कृत साहित्य लहरी (नायिका भेद) एवं नन्ददास कृत रसमंजरी का उल्लेख किया जा सकता है किन्तु परिपक्व आचार्य दृष्टि एवं सैद्धान्तिक निरूपण क्रम सर्वप्रथम हित तरंगिणी में ही प्राप्त है। केशवदास कृत "रसिकप्रिया" भी हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक रसशास्त्रीय ग्रन्थों मे विशेष महत्त्वपूर्ण तथा उल्लेखनीय है। रीतिकालीन परम्परा के अन्तर्गत रस सिद्धान्त पर

[redacted]

सर्वाधिक ग्रंथ लिखे गए और ये ग्रन्थ 60 के आस-पास होंगे। यद्यपि इन ग्रन्थों मे पिष्टपेषण अधिक मिलता है, साथ ही, मौलिकता के नाम पर परम्परा का ही अनुधावन हुआ है फिर भी, लक्षण तथा उदाहरण के रूप मे रस सिद्धान्त को अधिक रोचक तथा ग्राह्य बनाने के प्रति इन आचार्यों मे विशेष रूप मे सचेष्टता दिखाई पडती है।

आधुनिक हिन्दी समीक्षा एवं चिन्तन के विकास क्रम को रस सिद्धान्त ने पूरी तरह से प्रभावित किया है। मूलतः हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत कई दशको (लगभग सन् 1960) तक यह माना जाता रहा है कि रचना एवं आलोचना की केन्द्रीय धुरी रस सिद्धान्त ही है। यही नहीं, इस सिद्धान्त को पाश्चात्य आलोचना एवं वर्तमान मनोविज्ञान के प्रकाश मे भी देखने की चेष्टा इन्ही दशको में की गई। कई आलोचक रस सिद्धान्त को सौन्दर्यशास्त्र के प्रकाश में देखने का प्रयत्न कर चुके है। कुल मिलाकर, आधुनिक युग मे रस सिद्धान्त पर प्रस्तुत महत्त्वपूर्ण ग्रंथ इस प्रकार है—रस मीमांसा-रामचन्द्र शुक्ल, रस सिद्धान्त–नगेन्द्र, रस सिद्धान्त स्वरूप विश्लेषण-आनन्द प्रकाश दीक्षित, रस गंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन-प्रेमस्वरूप गुप्त, रस सिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र-निर्मला जैन, रस का मनोवैज्ञानिक अध्ययन-छैल बिहारी गुप्त राकेश, काव्यशास्त्र में रस सिद्धान्त-सच्चिदानन्द चौधरी, रस विमर्श-राममूर्ति त्रिपाठी आदि।

अलंकार सम्प्रदाय :—भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास विवेचन को स्पष्ट करने के लिए अलंकार सिद्धान्त की प्राचीनता तथा उसके विकासक्रम को इंगित किया जा सकता है। अलकार सिद्धान्त का सर्वप्रथम व्यवस्थित उल्लेख तथा विवेचन भरत कृत नाट्यशास्त्र मे होता है। भरत ने केवल चार अलंकारो का उल्लेख किया है—उपका, रूपक, यमक, दीपक। उपमा की प्रथम परिभाषा आचार्य उपवर्ण अर्थात् जैमिनी की है जिसका समय ई० पू० 7वीं शती हैं। पाणिनि, पतंजलि, कात्यायन आदि उपमा के विषय में बराबर उल्लेख करते हैं। इसकी प्राचीनता का अनुमान तो इसी से लगाया जा सकता है कि यास्क (ई० पू० छठीं शती) इसके विविध भेदो तथा रूपो का उल्लेख करते हैं। रूपक का सर्वप्रथम उल्लेख बादरायण कृत ब्रह्मसूत्र मे है। यमक एवं दीपक के सर्वाधिक कलात्मक एवं सचेष्ट प्रयोग कालिदास साहित्य में देखे जा सकते हैं। नाट्यशास्त्र के पश्चात् अलकार सिद्धान्त का निरूपण धर्मोत्तर पुराण मे मिलता है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण के पश्चात् आचार्य मेधाविन् या मेधाविरुद्र का उल्लेख मिलता है किन्तु इनका ग्रंथ अप्राप्य है। आचार्य भामहकृत "काव्यालंकार" इस दिशा में प्रथम ग्रन्थ हैं, जिसका प्रणयन काल 6वीं शती माना जाता है। इन्ही के समसामयिक आचार्य दण्डी ने इस विषय पर "काव्यादर्श' नामक ग्रन्थ की रचना की। इस परम्परा के प्रमुख आचार्य उद्भट

है, जिन्होंने "अलंकार सार संग्रह" नामक ग्रंथ की रचना की। संस्कृत साहित्य के अन्तर्गत अलकार सिद्धान्त के विवेचकों का ऐतिहासिक क्रम इस प्रकार है—

आचार्य का नाम		ग्रन्थ	
आचार्य रुद्रट	—	काव्यालंकार	10वीं शती
मम्मट	—	काव्यप्रकाश	11वीं शती
रुय्यक	—	अलंकारसर्वस्व	12वीं शती
वाग्भट्ट	—	वाग्भट्टालंकार	12वीं शती
हेमचन्द्र	—	काव्यानुशासन	12वीं शती
जयदेव	—	चन्द्रालोक	13वीं शती
विद्याधर	—	एकावली	13वीं शती
विद्यानाथ	—	प्रतापरुद्र यशोभूषण	14वीं शती
भानुदत्त	—	अलंकार तिलक	15वीं शती
केशव मिश्र	—	अलंकार शेखर	17वीं शती
अप्पय दीक्षित	—	चित्रमीमांसा, कुवलयानन्द	17वीं शती

संस्कृत के आचार्यों ने 17वीं शती तक अलंकार निरूपण की इस परम्परा को बरकरार रखा और ठीक हिन्दी साहित्य के रीतिकाल के प्रारम्भिक चरण तक उसके महत्त्व, आवश्यकता, औचित्य, अनिवार्यता आदि के विषय में प्रतिपादन होता रहा। यही कारण है कि रीतिकालीन आचार्यों ने इस सिद्धान्त को ठीक परम्परा के अनुक्रम में ज्यों-का-त्यों ग्रहण कर लिया।

हिन्दी के आचार्यों में सर्वप्रथम आचार्य केशवदास ने संवत् 1658 में अपने कविशिक्षा विषयक ग्रन्थ "कविप्रिया" के अन्तर्गत अलंकार निरूपण को सर्वाधिक महत्त्व दिया। यद्यपि आचार्य केशवदास का यह अलंकार निरूपण कवि शिक्षापरक है, फिर भी, वे परिपाटी के रूप में परम्परा से ही जुड़े रहते हैं। रीतिकाल के अन्तर्गत अलंकार निरूपण की प्रवृत्ति रस निरूपण के समान्तर दिखाई पड़ती है। अतः ग्रन्थों की संख्या अधिक है। इस विषय पर लगभग 70 से अधिक ग्रन्थ लिखे गए। इन ग्रन्थों में चिन्तामणि कृत कविकुल कल्पतरु, यशवन्तसिंह कृत भाषा भूषण, मतिराम कृत ललितललाम, भूषण कृत शिवराजभूषण, देव कृत शब्द रसायन, याकूब खाँ कृत रसभूषण, बैरीलाल कृत भाषाभरण, बेनी बंदीजन कृत राग प्रकास, ग्वाल कवि कृत अलंकारभ्रमभंजन आदि विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।

आधुनिक हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत अलंकार निरूपण एवं विवेचन की प्राथमिकता सन् 1950 तक स्वीकृत थी। पुरानी पीढ़ी के आलोचक मूलतः अलंकार

सिद्धान्त को काव्यरचना की मानक धारणा से सम्बद्ध करके उसके महत्त्व का प्रतिपादन अनेक रूपों में करते थे। आधुनिक काल में सर्वप्रथम संवत् 1950 में कविराज मुरारीदान ने 'जसवंत भूषण' की रचना की। इस दिशा में संवत् 2002 तक कई महत्वपूर्ण ग्रंथ लिखे गए, जैसे जगन्नाथ भानु कृत काव्यप्रभाकर, भगवानदीन कृत अलंकार मंजूषा, अर्जुनदास केडिया कृत भारती भूषण, बिहारीलाल भट्ट कृत साहित्यसागर, कन्हैयालाल सेठ कृत अलंकार मंजरी, रमाशंकर शुक्ल रसाल कृत अलंकार-पीयूष (दो भाग), रामदहिन मिश्र कृत काव्यदर्पण आदि। इन विवेचनों के अन्तर्गत अलंकार की रचना-प्रक्रिया एवं शिल्पविधान की प्रधानता का प्रतिपादन अनेक रूपों में ससंक्षिप्तमात्र से किया गया है। अलंकार निरूपण का यह विवेचन क्रम लगभग 1950 तक समाप्त हो गया।

आधुनिक हिन्दी साहित्य में अलंकार विवेचन का एक दूसरा क्रम दिखाई पड़ता है जिसका सम्बन्ध शोध से है। इस प्रकार के ग्रन्थ अलंकार सिद्धान्त के ऐतिहासिक स्वरूप, अवधारणाओं, संख्या तथा औचित्य आदि का विवेचन प्रस्तुत करते हैं। ओम प्रकाश कृत हिन्दी अलंकार साहित्य, रीतिकालीन अलंकार साहित्य का शास्त्रीय विवेचन, सत्यदेव चौधरी कृत रीति परम्परा के प्रमुख आचार्य, भोलाशंकर व्यास कृत भारतीय काव्यशास्त्र और काव्यालंकार आदि इस अनुक्रम में लिखे गए प्रमुख ग्रन्थ हैं।

रीति सम्प्रदाय :—"रीति" शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम आचार्य वामन ने अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ "काव्यालंकारसूत्र" के अन्तर्गत सातवीं शती में किया। इसके पूर्व आचार्य भरत ने "रीति" शब्द के लिए वृत्ति शब्द का प्रयोग किया है। इस क्रम में उन्होंने मागधी, प्राच्या, अवन्तिका एवं दाक्षिणात्या वृत्तियों का उल्लेख किया है। आगे चलकर, यही वृत्तियाँ ही आचार्य वामन आदि के द्वारा "रीति" शब्द के नाम से पुकारी गईं।

"एतस्तिस्त्रयो वृत्तयो वामनादीना मते गौडी पाचालाख्या रीतयो मता"

बाणभट्ट "उदीच्य, प्रतीच्य, दाक्षिणात्य एवं गौडीय" काव्य प्रणालियों का उल्लेख हर्षचरित में करते हैं। यह सत्य है कि परवर्ती आचार्यों ने "वृत्ति" तथा "रीति" इन दो शब्दों को प्रथक् किया किन्तु प्रारम्भिक स्थिति में "वृत्ति" शब्द प्राय रीति का पर्यायवाची ही था।

"रीति" के लिए एक अन्य नाम "मार्ग" का उल्लेख मिलता है। आचार्य भामह तथा दण्डी इसके लिए मार्ग शब्द का ही उल्लेख करते हैं। आचार्य कुन्तक ने भी "रीति" शब्द के लिए मार्ग शब्द का प्रयोग किया है।

सम्प्रति तत्र ते मार्गाः कवि प्रस्थान हेतवः।
सुकुमारो विचित्रस्य मध्यमश्चोभयात्मक ॥

आचार्य भोज "रीति" के लिए "कवि पंथ" का नाम देते है—

वैदर्भादि कृतः पन्थाः काव्ये मार्ग इति स्मृतः।
रीङ्गताविति धातो सा व्युत्पत्यारीतिरुच्यते ॥

इस "रीति शब्द का प्रयोग आचार्य वामन द्वारा किया गया किन्तु वृत्ति मार्ग एवं पन्थ के रूप मे इसका उल्लेख आचार्य भरत से ही मिलने लगता है। सामान्य तथा "रीति सिद्धान्त" के मूल उदभावक के रूप मे आचार्य वामन का एक मात्र उल्लेख किया जाता है किन्तु इस सिद्धान्त की चर्चा उनके पूर्ववर्ती आचार्यों मे भामह, दण्डी तथा परवर्ती आचार्यो मे रूद्रट, कुन्तक, भोज, शिङ्-भूपाल आदि भी करते है। सत्य है कि आचार्य वामन जैसी रीति निरूपण की निष्ठा किसी अन्य परवर्ती आचार्य मे नही दिखाई पड़ती।

हिन्दी साहित्य में "रीति" शब्द का प्रयोग रीतिकालीन कवियों द्वारा किया गया और यह शब्द काव्य प्रणाली, काव्यरचना, मुक्तक काव्य आदि अर्थों मे प्रयुक्त मिलता है। आधुनिक हिन्दी साहित्य मे मिश्र बन्धुओ ने "रीति" शब्द का प्रयोग काव्यप्रणाली के अर्थ मे किया है तथा आचार्य शुक्ल काव्यरचना मे निहित प्रवृत्ति और उसकी पुनरावृत्ति परम्परा के रूप मे इस शब्द का प्रयोग करते हैं।

सामयिक नव्य समालोचना के अन्तर्गत शैली विज्ञान या "रीति विज्ञान" की एक नई आलोचना विधा विगत तीन-चार दशको से प्रारम्भ हुई है। यह दृष्टि-कोण आचार्य वामन के रीति विषयक दृष्टिकोण से कई अर्थों मे तालमेल रखता है किन्तु चिन्तन की स्थापनाओ एवं मौलिकताओ की दृष्टि से यह आलोचना की सर्वथा नवीन विधा है।

गुण सम्प्रदाय :—"गुण क्या पृथक् से एक काव्य सिद्धान्त है," इस विषय मे पर्याप्त मतभेद है किन्तु रचना के स्तर पर भाषिक मादर्व एव उसके भौतिक स्वरूप रचना के कारण काव्य-वैशिष्ट्य के प्रभावो का आकलन अनिवार्यता के रूप में किया जाता है। रीतिवादी आचार्य वामन जब रीति का विवेचन करते है तो उनके विवेचन का प्रमुख दृष्टिकोण गुणाश्रित ही है। प्राय आचार्य भरत से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक वे काव्यरचना के उस भाषिक वैशिष्ट्य का समर्थन करते है, जिसके कारण एक काव्य रचना के रूप में रूपायित होता है।

सामान्य रूप से व्यावहारिक स्तर पर काव्य भाषा के इस गुण वैशिष्ट्य का उल्लेख महाभारत, रामायण, कौटिलीय अर्थशास्त्र एवं पाणिनि कृत अष्टाध्यायी आदि जैसे प्राचीन ग्रन्थों मे प्राप्त है, फिर भी आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र मे इसका उल्लेख सर्वथा प्राचीन तथा प्रामाणिक माना जाता है। आचार्य भरत ने

काव्य के अन्तर्गत 10 गुणों की सत्ता स्वीकार की है और इसी के समानान्तर आचार्य वामन तथा भोज ने भी दस गुणो की सत्ता को माना है किन्तु आचार्य भामह ने काव्य के 10 गुणो का समाहार तीन गुणों के अन्तर्गत किया और तबसे तीन गुणो की सैद्धान्तिक परिपाटी का क्रम स्थापित हुआ और प्राय: सभी परवर्ती आचार्यो ने काव्य के इन्हीं तीन गुणों को प्राथमिकता दी। परवर्ती आचार्यों मे भोजराज ने शृंगारप्रकाश के अन्तर्गत गुण का विस्तारपूर्वक विवेचन करते हुए इसे रचना का अपरिहार्य धर्म के रूप में स्थापित किया। उन्होंने परम्परित शब्द गुण तथा अर्थ गुण के अतिरिक्त भी "शब्दार्थ" नामक एक पृथक् गुण स्वीकार किया और अग्निपुराण में भी आचार्य भोज की इस मान्यता का समर्थन मिलता है। आचार्य कुन्तक ने काव्य गुणों को दो भागो मे विभक्त किया है। (1) अनिवार्य गुण, तथा (2) सामान्य गुण। उनके अनुसार काव्य-रचना का अनिवार्य गुण औचित्य तथा सौभाग्य हैं और सामान्य गुण प्रसाद, ओज, माधुर्य, लावण्य तथा आभिजात्य है। परवर्ती आचार्यों में आचार्य मम्मट, कविराज विश्वनाथ तथा पण्डितराज जगन्नाथ से ओज, प्रसाद तथा माधुर्य नामक इन तीन गुणों की स्थिति स्वीकार की।

हिन्दी साहित्य के रीतिकालीन साहित्य मे काव्य गुणों का विवेचन सामान्य रूप से हुआ है, और इस सम्बन्ध में 10 गुण तथा तीन गुण—दोनों परिपाटियो को स्वीकार करने का क्रम मिलता है। आधुनिक हिन्दी साहित्य के मूर्धन्य आलोचक रामचन्द्र शुक्ल, डॉ० नगेन्द्र आदि काव्य के तीन गुणो को ही स्वीकृति प्रदान करते हैं।

जैसा कि प्रारम्भ मे विवेचित किया जा चुका है, गुण का अर्थ काव्यभाषा के भौतिक स्वरूप के वैशिष्ट्य तथा भाषिक रचना की सार्थकता से जुड़ा है। आज नव्य समालोचना के अन्तर्गत जिस काव्यभाषा का प्रश्न उठाया जाता है, उसकी परिधि में "काव्य गुण" समाविष्ट हो जाता है। इस प्रकार "काव्यभाषा" के अन्तर्गत इस नितान्त प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्रीय सन्दर्भ को आज भी नितान्त अप्रासंगिक कहना उचित नहीं है।

ध्वनि सम्प्रदाय

भारतीय काव्यशास्त्र के अन्तर्गत ध्वनि सिद्धान्त का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। यद्यपि ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना रस, गुण, रीति, अलंकार सिद्धान्तो के बाद हुई है, फिर भी, इसके संस्थापक आचार्य सहृदय या आनन्दवर्धन इसकी प्राचीनता की ओर इंगित करने का प्रयास करते हैं। उनके अनुसार "ध्वनि सिद्धान्त" के मूल उद्भावक आचार्य पूर्ववर्ती वैयाकरण थे किन्तु आचार्य आनन्द-

वर्धन ने इसे जिस रूप मे रखा है, वह उसका पूर्णतः अभिनव स्वरूप माना जाता है। आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक की रचना के माध्यम से पहली बार ही प्रारम्भ मे इस मत को स्थापित किया और उनके पश्चात् इस मत के प्रबल समर्थक आचार्य "अभिनवगुप्त" ने "ध्वन्यालोक" पर "लोचन" नामक टीका लिखकर इसकी सम्पूर्ण मान्यताओं की सम्पुष्टि की। परवर्ती आचार्यों में प्रायः सभी ने इस मत का उल्लेख किया किन्तु आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में अत्यंत विशेष रूप से इस मत की पुष्टि की। आचार्य विश्वनाथ और पंडितराज जगन्नाथ ने इसके विविध भेदोपभेदो का निरूपण करके काव्य में इसके औचित्य और आवश्यकता की ओर सहृदयों का ध्यान आकर्षित किया।

हिन्दी साहित्य के रीतिकाल मे इस सिद्धांत का सर्वाधिक प्रयोग आचार्य भिखारीदास ने किया। इनके साथ-ही-साथ, इस मत के अन्य समर्थकों में आचार्य भगवानदीन, प्रताप साहि आदि के नामोल्लेख किए जा सकते हैं। आधुनिक काल में डॉ० भोलाशंकर व्यास ने "ध्वनि सम्प्रदाय और उसके सिद्धांत" शीर्षक के अंतर्गत इस सिद्धांत पर एक सुविवेचित ग्रंथ की रचना की।

वक्रोक्ति सम्प्रदाय

ध्वनि सिद्धांत की ही भांति वक्रोक्ति सिद्धांत का इतिहास अधिक व्यापक अंतराल को नहीं समेटता। दसवीं शती मे कुन्तल या कुन्तक नामक आचार्य ने "वक्रोक्तिजीवितम्" नामक ग्रंथ की रचना करके इस सिद्धांत की स्थापना की। यद्यपि वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग आचार्य कुन्तक के पूर्व भामह, दण्डी आदि ने किया था और सुबंधु, बाणभट्ट आदि रचनाकारों ने अपनी कृतियों मे इस शब्द का अनेकशः प्रयोग किया है किन्तु इस शब्द को व्यापक सैद्धान्तिकता आचार्य कुन्तक ने ही दी। परवर्ती आचार्यों द्वारा इस सिद्धांत की अधिक चर्चा नहीं की गई किन्तु आधुनिक काल में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कई रूपों में इस सिद्धांत का उपयोग किया। हिन्दी आलोचना मे इतस्ततः कहीं-कहीं इस सिद्धांत का उल्लेख प्रायः प्रसंगवश ही किया जाता है। यह सत्य है कि कई शोधपरक प्रबंध ग्रंथ इस सैद्धान्तिकता को केन्द्र मे रखकर लिखे गए किन्तु उनके माध्यम से इसकी मौलिक स्थापनाओं की उद्भावना नहीं हो सकी।

कवि शिक्षा सम्प्रदाय

कवि शिक्षा सम्बन्धी प्रारम्भिक संकेत आचार्य भरत एवं नाट्यशास्त्र से ही मिलने लगते हैं। भामह, दण्डी, वामन एवं रुद्रट के प्रारम्भिक ग्रंथों में इस सम्बन्ध मे अनेक साक्ष्य वर्तमान हैं किन्तु इस विषय में लिखे गए दो ग्रन्थ विशेष महत्त्वपूर्ण हैं—आचार्य क्षेमेन्द्र कृत कविकण्ठाभरण तथा राजशेखर कृत काव्य मीमांसा।

इन ग्रंथो मे अनेकश. काव्यरचना की विविध परिपाटियों एवं रचना के लिए तत्पर कवि के लिए निर्देश वर्तमान हैं। यही नहीं इन ग्रन्थो में उन विशेष जानकारियों की तालिका मिलती है, जिनका उपयोग परम्परा के कवि विशिष्ट वर्णन प्रसंगों मे किया करते थे। हिन्दी साहित्य में आचार्य केशवदास ने "कवि-प्रिया" की रचना इसी परम्परा मे की है। आचार्य सुरति मिश्र द्वारा काव्य सिद्धान्त आदि ग्रन्थ रीति काल मे इसी परम्परा के अन्तर्गत लिखे गए। "कवि-शिक्षा" की परिपाटी आधुनिक साहित्य मे कहीं भी नहीं प्रासंगिक प्रतीत होती फिर भी, शोध के अन्तर्गत इस विषय पर कार्य किए गए हैं। डॉ० सत्यप्रकाश मिश्र का "कवि शिक्षा की परम्परा और हिन्दी रीति साहित्य" शोध ग्रंथ इस सम्प्रदाय के सम्बन्ध मे पर्याप्त सामग्री की सूचना देता है।

औचित्य सम्प्रदाय

अनेक आचार्य इसको कवि शिक्षा के साथ ही ग्रहण करते हैं और कई इसे स्वतन्त्र मत के रूप में स्वीकृति प्रदान करते हैं। आचार्य क्षेमेन्द्र ने "औचित्य विचार चर्चा" शीर्षक ग्रन्थ के अन्तर्गत इसकी मान्यताओं को प्रतिष्ठित किया है कि औचित्य के अभाव मे रचना की सार्थकता का प्रश्न ही नहीं उठता। इस सम्प्रदाय की चर्चा अवश्य की जाती है किन्तु इसकी उपलब्धियों पर परवर्ती काल खण्ड में कोई चर्चा नहीं की गई।

इस प्रकार भारतीय काव्यशास्त्र का सैद्धान्तिक क्रम एक व्यवस्था में न मिलकर वैमत्यो के अन्तर्गत मिलता है। काव्यशास्त्र के आरम्भिक कालखण्ड में स्वमत की स्थापना और विविध सिद्धान्तों की रचना की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। नए सिद्धान्तो की उद्‌भावना करते समय आचार्यों ने या तो अपने मत के अन्तर्गत पूर्ववर्ती सिद्धान्तो का समाहार किया है या उन मतों को नकारा है। इन आचार्यों मे एक सिद्धान्त प्रतिष्ठा का शास्त्रीय मोह दिखाई पड़ता है। परवर्ती कालखण्ड में प्रायः समन्वयात्मक प्रवृत्ति रही है। आचार्य मम्मट, विश्वनाथ एवं पण्डितराज जगन्नाथ जैसे आचार्य सर्वांग निरूपण के अन्तर्गत अपनी प्रतिभा के वैशिष्ट्य को प्रकाशित करने पर बल देते है। यही नहीं, हिन्दी साहित्य का रीति-काल अपनी मान्यताओं के लिए इन सिद्धांतों पर पूर्णत. आश्रित रहा है किन्तु आधुनिक काल में यह प्रवृत्ति धीरे-धीरे परम्परागत शास्त्रानुमोदन की प्रवृत्ति समाप्त होती गई। इस प्रकार कुल मिलाकर सम्पूर्ण भारतीय काव्यशास्त्र का इतिहास निम्नलिखित सिद्धांतों के उद्‌भव एवं विकास से जुड़ा है :—

(1) रस सिद्धांत
(2) अलंकार सिद्धांत
(3) रीति सिद्धांत

(4) गुण सिद्धांत
(5) ध्वनि सिद्धांत
(6) वक्रोक्ति सिद्धांत
(7) कवि शिक्षा तथा औचित्य सिद्धात

भारतीय काव्यशास्त्र और हिन्दी साहित्य की प्रासंगिकता

भारतीय काव्यशास्त्र के आलोक में हिन्दी साहित्य की प्रासंगिकता का प्रश्न उठाया जाना आवश्यक है क्योंकि हिन्दी साहित्य का उद्भव उसी कालखण्ड मे हुआ जबकि संस्कृत साहित्य के अन्तर्गत काव्यशास्त्रीय चिन्तन अपने सर्वोच्च शिखर पर था। हिन्दी साहित्य में जब गोरखबानी, पउमचरिउ एवं दोहकोष जैसे ग्रंथों की रचना हो रही थी तो दूसरी ओर संस्कृत साहित्य में भामह-काव्यालंकार, दण्डी-काव्यादर्श, वामन-काव्यालंकार सूत्र, आनन्दवर्धन-ध्वन्यालोक की रचना कर रहे थे। अपभ्रंश काव्य परम्परा में अब्दुल रहमान का संदेशरासक एवं नरपति नाल्ह द्वारा बीसलदेव रासो एवं चन्दबरदाई द्वारा पृथ्वीराज रासो की रचना की जा रही थी तो ठीक उसी समय संस्कृत साहित्य में ध्वन्यालोकलोचन, वक्रोक्तिजीवितम् एवं शृंगार प्रकाश जैसी रचनाएँ लिखी गईं। क्या कारण है कि उस युग का समस्त आभिजात्य रचनात्मक संस्कार इन लोक कवियो का संस्पर्श नहीं कर सका और इन लोक कवियो की संवेदना उन आभिजात्य रचना के अन्तर्गत कहीं भी अवतरित नहीं हुई। यह विरोध निश्चित रूप से शास्त्र एवं लोक का है, आभिजात्य एवं जन साहित्य का है। हिन्दी साहित्य के सैद्धान्तिक चिन्तन को समझने के लिए शास्त्र एवं आभिजात्य से भिन्न इस जन संस्कार के औचित्य को समझना नितान्त आवश्यक है। शास्त्र तथा लोक दो विरोधी एवं विषमगामिनी प्रवृत्तियाँ हैं। हिन्दी का आभिजात्य साहित्य के प्रकाश में शास्त्रीय व्याख्या करने वाले चिंतकों तथा आलोचकों को इसीलिए दिग्भ्रमित होना पडता है। अपभ्रंश साहित्य में कहा गया है—

जेवण अन्तर रावण रामहं। तेवणु अंतरू पट्टण गामहं॥

ठीक यही, अन्तर्विरोध आभिजात्य एवं लोक का है, और यही अंतर संस्कृत तथा लोकभाषा का भी है। इस प्रकार इस लोकात्मक प्रवृत्ति के अंतर्गत प्राप्त रचना क्रम की संगति आभिजात्य से नहीं बैठाई जा सकती। नाथ, सिद्ध एवं जैन साहित्य के मूल्याकन का आधार "आस्वादन" नहीं है। यह आस्वादन भाषिक कलाधर्मिता की उपज नहीं है। इसमे भाषा की लाक्षणिकता को समाप्त करके नए सिरे से रचने की कोशिश की गई है। इनके अनुभव व्यापार मे मध्य या उच्च वर्गीय जीवन की विलासमयी रुचियो का वर्णन नहीं है। इस साहित्य का

मंतव्य जीवन के कतिपय शाश्वत मूल्यों का अन्वेषण है। इस साहित्य की दो प्रमुख प्रवृत्तियाँ विशेष महत्त्वपूर्ण हैं :—

(1) धार्मिक परम्परा की समग्रता से लोक जीवन को आत्मसात कराने तथा परम्परा के अनुभूत सत्य को सम्प्रेषित कराने के लिए निरन्तर सचेष्टता।

(2) शास्त्रीय साहित्य के कालखण्ड में कुण्ठित लोकचेतना के प्रवाह को अधिक प्रभावी एवं गतिशील बनाने के लिए सचेष्टता।

इन दोनों दृष्टियों को ही केन्द्र में रखकर हिन्दी काव्य में निहित शास्त्रीय प्रवृत्ति का विवेचन किया जा सकता है।

हिन्दी का प्रारम्भिक ललित साहित्य भी अनेक अर्थों में शास्त्र से कम संस्कृत आभिजात्य साहित्य की रचनात्मक परिपाटी से अधिक जुड़ा था। उदाहरण के लिए राउलवेलि, संदेशरासक, बीसलदेव रास; पृथ्वीराज रासउ आदि काव्यों को देखा जा सकता है। इन काव्यों में वर्ण विधान दृष्टि संस्कृत के ललित साहित्य की रही है किन्तु काव्यशास्त्रीय सैद्धान्तिक चिन्तन से इनका विशेष सम्बन्ध नहीं था। विविध वर्णन परिपाटियों यथा-नख, मुख, भ्रूविलास, कटाक्ष, लज्जा; मृगया; आखेट, विरह, प्रवास, संयोग आदि साहित्य की परम्परित परिपाटियों की छाया में प्रभावित ये काव्य अपनी रचनात्मक प्रवृत्ति में लोकात्मक न होकर कहीं-न-कहीं आभिजात्य से जुड़ते हैं। इस प्रकार लोक परम्परा एवं आभिजात्य संस्कारों से मण्डित दो प्रकार की काव्यधाराएँ हिन्दी साहित्य में दिखाई पड़ती हैं।

यदि ध्यानपूर्वक देखा जाए तो सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य लोकचेतना एवं आभिजात्य संस्कारों के द्वन्द्व का साहित्य है। लोकचेतना एवं आभिजात्य संस्कारों का यह द्वन्द्व हिन्दी साहित्य में आदिकाल से ही चला आ रहा है। जैसे-जैसे समय व्यतीत होता गया, वैसे-वैसे ये दोनों प्रवृत्तियाँ क्रमशः प्रबल पड़ती गईं। आदिकाल के बाद लोकात्मक प्रवृत्ति की प्रबलता के कारण हिन्दी साहित्य में भक्तिकाल की प्रमुखता दिखाई पड़ती है और दूसरी ओर आदिकाल से लेकर भक्तिकाल तक पनपती चली आ रही काव्यधारा रीतिकाल में पूरी तरह से सशक्त रही। इस रीतिकाल का आवेश भारतेन्दु-युग तक दिखाई पड़ता है और फिर क्रमशः जनचेतना के दबाव ने द्विवेदी-युग से लेकर आज तक की प्रवृत्ति आभिजात्य तथा शास्त्रीयता से पूर्णतः विमुख दिखाई पड़ती है। हिन्दी साहित्य की इन दो प्रवृत्तियों के कारण साहित्यशास्त्रीय चिन्तन के मानकों पर असर पड़ा है। मूल रूप से ये मानक एक ही युग की कृतियों को दो दृष्टियों से देखने के लिए विवश करते हैं। उदाहरण के लिए आदिकाल के पृथ्वीराजरासो के विश्लेषण का जो शास्त्रीय आधार होगा, सरहपा की वाणियों को उनसे विवेचित करना सम्भव नहीं है। आचार्य केशवदास की रामचन्द्रिका तथा तुलसी कृत मानस के विवेचन के दो भिन्न मानक होंगे यद्यपि दोनों कृतियाँ एक ही काल-

खण्ड के अन्तर्गत लिखी गई हैं। लोकात्मक काव्यधारा के अन्तर्गत प्राप्त आदिकालीन तथा भक्तिकालीन साहित्य के लिए भिन्न मानक के निर्धारण की आवश्यकता पड़ेगी। इन मानकों का आधार इस प्रकार है—

(1) नीति, धर्म, भक्ति, दर्शन, सद्वृत्ति आदि कथ्य के विषय होकर भी रचनाधर्मिता के विषय हैं तथा इस रूप में अन्य काव्यविषयों की भाँति ये आस्वाद्य होते हैं।

(2) रूप अर्थात् विषय के रूपायन की समस्या इनकी विशेष समस्या है। निर्गुण, सगुण, निराकार, निरंजन, शून्य, पूज्य पुरुष जो भी इनके द्वारा काम्य हैं, ये उनको रचनात्मक धरातल पर बिम्बित करने की कोशिश करते हैं।

(3) इनका सृजन कौशल प्राय. परम्परित न होकर उससे भिन्न कोटि का है और रचनात्मक भाषिक प्रक्रिया का विधान न तो आभिजात्य है और न शास्त्रीय। यदि इनमे कही रहस्यमयता या लाक्षणिकता भी दिखाई पडती है तो वह भी धार्मिक परिपाटी से ही सम्बद्ध दिखाई पड़ेगी।

(4) इनके भाव चिन्तन का आस्वादन का स्वरूप रस शास्त्रीय कोटि से न जुडकर उनकी धार्मिक या मानवीय नैतिक मूल्यवत्ता से सम्बद्ध है। शम व्यापार, उदात्त प्रियता, प्रेम, आनन्द आदि कितने भावात्मक मूल्य इस साहित्य के भावना-व्यापार से जुड़ते हैं। ये मूल्य भारतीय रस शास्त्र की परम्परा मे विवेचित नही है।

(5) मानव के लिए उच्चतम शुभ इनके साहित्य के मन्तव्य से जुड़कर इन्हे सर्वथा नई दिशा प्रदान करता है।

(6) इनके "पाठक" की समस्या "रस भोग" या "रसास्वादन" की नही है। मूलतः इस साहित्य के माध्यम मे पाठक को एक भिन्न प्रकार की संतृप्ति का अनुभव होता है जो कलात्मक परिवेश में निर्मित साहित्य के परिणाम से भिन्न है। अहं का विसर्जन, सत्वस्थ होना या सर्वात्म विलयन इस साहित्य के आस्वादन व्यापार के प्रमुख धर्म हैं। विश्रान्ति, तृषाक्षय सुख, ब्रह्म का रागात्मक भोग, आनन्द, शमत्व आदि इस साहित्य के धर्म है, जिसको पाठक भोग करता है।

(7) इस साहित्य के सृजन की अवधारणा भी क्लैसिक साहित्य के सृजन की अवधारणा से भिन्न है। सामाजिक यथार्थ के ऊपर व मानवीय जीवन एवं मानव जन्म की सार्थकता, स्वरूप और अपने लक्ष्य की अवधारणा का प्रश्न इस साहित्य से जुडा है और ऐसी स्थिति मे इनसे सम्बद्ध भिन्न प्रकार के कतिपय विशेष रचनात्मक मूल्य भी हिन्दी साहित्य से जुडे है।



2
काव्य चिन्तन के विविध पक्ष

काव्य की परिभाषा

भारतीय काव्यशास्त्रियो ने प्रारम्भ से ही कविता के स्वरूप के सम्बन्ध मे सम्पूर्ण स्पष्टता के बाद ही उसके अवयवो का विवेचन प्रारम्भ किया। सामान्य रूप से कवि कर्म कौशल को काव्य कहा गया है। आचार्य राजशेखर ने काव्य को कविकर्म मानते हुए उसकी व्युत्पत्तिमूलक परिभाषा इस प्रकार दी है—

कवि शब्दस्य कवृ वर्णे इत्यस्य धातोः। काव्य कर्मणो रूपम्। कवि शब्द की व्युत्पत्ति "कवृ" धातु से हुई है और इस प्रकार कवि कर्म का अर्थ काव्य है। संस्कृत साहित्य में कवि कर्म के रूप मे काव्य की कई परिभाषाएँ मिलती हैं—

आचार्य अभिनव—कवनीयम् इति काव्यम्—अर्थात् रचना या वर्णन व्यापार ही काव्य है।

आचार्य मम्मट—लोकोत्तर वर्णन निपुण कवि कर्म काव्यम् अर्थात् आनन्द को दिलाने वाली कवि की भाषिक रचना ही कविता है।

आचार्य विद्याधर—कवयतीति इति कविः तस्य कर्मः काव्यम्।

काव्य रचना करने वाला कवि है। कवि कर्म ही काव्य है।

कविता की ये समस्त परिभाषाएँ मात्र निर्देशात्मक हैं। इनका सम्बन्ध कविता की तात्विकता से नही है। आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र मे कविता के सम्पूर्ण तत्वो को इंगित करते हुए उसे इस प्रकार परिभाषित किया है—

मृदुललितपदाढ्यं गूढ़ शब्दार्थहीनम्।
जनमुखपदबोध्यं मुक्तिमन्नृत्य योज्यम्।।
बहुरसकृत मार्गम् सन्धि सन्धानयुक्त।
स भवति शुभ काव्यमू नाटकप्रेक्षकाणाम्।।

आचार्य भामह ने सर्वप्रथम काव्य की सन्तुलित परिभाषा दी। उनकी सुप्रसिद्ध परिभाषा है—"शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्" शब्द और अर्थ का "सौहित्य"

ही काव्य है। शब्द तथा अर्थ की यह सहितता क्या है, विद्वानों ने इस पर तरह-तरह से विचार किया है। शब्द तथा अर्थ के सौहित्य का अर्थ है, वाक्यार्थ की प्रतीति के लिए दोनों के सन्तुलित प्रयोग की कुशलता। कवि शब्दार्थ का प्रयोग काव्य-रचना में "तुलाधृतमिव" करता है। वाच्यार्थ, अभिप्राय एवं मन्तव्य की सही सटीक अभिव्यक्ति के लिए शब्दों का कितना प्रयोग अपेक्षित है और अर्थों के सम्यक् विवेचन के लिए उनका सम्यक् रूप कितना हो, यह शब्द सिद्धि से ही सम्भव है। काव्य के निरन्तर अभ्यास एवं अनुशीलन के पश्चात् किसी कवि को शब्दार्थ प्रयोग की सिद्धि मिलती है और तभी शब्दार्थ की आनुपातिक सहितता में वह सिद्धहस्त हो पाता है। आचार्य वामन ने इसीलिए भामह की इस परिभाषा को स्पष्ट करते हुए बताया है कि शब्दार्थ का लाक्षणिक अर्थ ग्रहण करना साहित्य मात्र अभिप्रेत नहीं। शब्दार्थ मूलक परिभाषाओं की अपनी परम्परा संस्कृत काव्यशास्त्र में मिलती है।

समुद्रबन्ध—इह विशिष्ट शब्दार्थौ काव्यम्
रुद्रट—ननु शब्दार्थौ काव्यम्
मम्मट—तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि
हेमचन्द्र—अदोषौसगुणौ सालंकारौ च शब्दार्थौ काव्यम्
राजशेखर—शब्दार्थयोर्यथावत् सहभावेन विद्या साहित्य विद्या

आचार्य केशव मिश्र—साधु शब्दार्थ सन्दर्भ गुणालंकार विभूषितम्
स्फुटरीति रसोपेतं काव्यं कुर्वीत् कीर्तये

इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि मात्र शब्दार्थ ही काव्य नहीं है। काव्य के साथ "गुण वैशिष्ट्य" हो या अर्थ वैशिष्ट्य यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न आचार्य भामह के ही युग में उठाया गया। आचार्य भामह स्वयं दो प्रकार के काव्यों की चर्चा करते हैं, एक वह काव्य जो "सौ" शब्द या सुन्दर विशेषयुक्त शब्दों में लिखा गया हो तथा एक वह वाक्य जो "वक्रार्थ" से युक्त हो। इस वक्रार्थ काव्य का "लालित्य" से अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। लालित्ययुक्त वक्रार्थ हो सकता है और लालित्य विरहित भी, अतः कविता के लिए मूल शर्त वक्रता है।

आचार्य भामह ने परवर्ती समर्थकों ने कविता को उसके विशिष्ट तत्त्वों से जोडा, उदाहरण के लिए रीति, गुण, अलंकार, दोषरहितता आदि। आचार्य भामह को काव्य की परिभाषा देते समय इन सभी तत्त्वों की चिन्ता थी और उन्होंने इसीलिए "सहितौ" शब्द का प्रयोग भी किया था।

काव्य की तीसरे वर्ग की परिभाषाएँ पदावली से सम्बद्ध हैं। मूलतः इनका प्रारम्भ लालित्यवादियों से ही हुआ। लालित्य के समर्थक आचार्य दण्डी ने कविता को इस प्रकार परिभाषित किया है—

तैः शरीरं च काव्यानाम् अलंकाराश्च दर्शिता ।
शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली ॥

अभीष्ट अर्थ को द्योतित करने वाली अलंकारादि से विभूषित पदावली ही काव्य है। पदावली के समान्तर काव्य की वाक्यमूलक परिभाषा भी दी गई। मूलतः काव्य को वाक्य मानकर विवेचित करने की परम्परा का सूत्रपात आचार्य दण्डी ने ही किया था। अग्निपुराणकार कहता है—

..................इष्टार्थं व्यवच्छिन्ना पदावली।
काव्यमस्फुटलंकारं गुणवद्दोष विवर्जितम् ॥

आचार्य विश्वनाथ—वाक्यं रसात्मकं काव्यम्

शौद्धोदनि—"काव्यं रसादि मद्वाक्यं श्रुतम् सुख विशेषकृत्" इस प्रकार काव्य की परिभाषा को पदावली या वाक्य पर आश्रित करके आचार्यों ने प्रस्तुत किया।

कविता को दो तरह से परिभाषित किया जा सकता है। प्रथम दृष्टिकोण है, कविता को कला रचना मानकर।

काव्य की दूसरी परिभाषा की दृष्टि है, कविता को रसास्वादन प्रक्रिया से जोड़कर उसे विवेचित करना। कविता का प्रथम सन्दर्भ कवि कर्म के कलात्मक कौशल से है, और दूसरा सन्दर्भ आस्वादन प्रक्रिया से है, जिसमें पाठक या सहृदय का तत्व प्रमुख है। कविता को परिभाषित करने के दोनों दृष्टिकोण अपने आपमें संगत लगते हैं। विभिन्न कलात्मक तत्त्वों के संयोजन से शब्दार्थ संयोग कराना एक विलक्षण कार्य है। आचार्य शुक्ल ने इसे भाव योग से जोड़ा है। यह जोड़ना कितना संगत है, यह भी विचारणीय है। काव्य निश्चित रूप से शब्दार्थ रचना का ही कलात्मक विधान है जिसके द्वारा कवि अनुभव वैशिष्ट्य को पाठक के चित्त में तद्वत् सम्प्रेषित करने के लिए सचेष्ट रहता है। इस दृष्टि से आचार्य भामह की काव्य परिभाषा—"शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्" ही सर्वथा उपयुक्त प्रतीत होती है।

काव्य का प्रयोजन

काव्य किसके लिए? यह एक मूलभूत प्रश्न है। आज आलोचकों का एक वर्ग है, जो इस प्रश्न को सार्थक नहीं मानता। उनके अनुसार काव्य का प्रयोजन कवि की रचनात्मक या कलात्मक अन्तर्वृत्ति की संतुष्टि मात्र है। आलोचक इसे भी मूल्य मानकर उसको काव्यप्रयोजन से सम्बद्ध कर सकते हैं किन्तु इसका सम्बन्ध रचनाकार की कलात्मक कृति से है जो कि नैसर्गिक रचना प्रवृत्ति है। मूलतः यह रचनाकार से सम्बद्ध रचना का अन्तवर्ती मूल्य है। इस अन्तवर्ती मूल्य से भिन्न भी काव्य रचना के बाह्य मूल्य एवं प्रयोजन हो सकते हैं इन बाह्य मूल्यों की चर्चा

[redacted]

संस्कृत काव्यशास्त्र के अन्तर्गत अनेक रूपों में हुई है। संक्षेप में, काव्य प्रयोजन की स्थिति इस प्रकार है—

आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र के अन्तर्गत उसके प्रयोजन की चर्चा करते हुए बताया है कि—

धर्मयशस्यमायुष्यम् हितबुद्धिविवर्धनम् ।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद्भविष्यति ॥

इस प्रकार, काव्य नाट्य का प्रयोजन धर्म, यश की स्थापना, आयु, हित-बुद्धि की वृद्धि तथा लोकोपदेश की दृष्टि व्यवस्थित करना है। आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र के अन्तर्गत कई स्थानों पर प्रयोजनों की चर्चा की है और उनके माध्यम से यही निष्कर्ष निकाला है कि लोकहित एवं प्रीति अर्थात् रचनात्मक तृप्ति ही नाट्य का उद्देश्य है।

काव्य प्रयोजन के विषय में सर्वप्रथम स्पष्ट रूप से निर्देश आचार्य भामह ने किया था, उन्होंने प्रायः प्रयोजन के सन्दर्भ में सभी परवर्ती स्वीकृति दृष्टियों की ओर संकेत किया है। उनके अनुसार "यशःसिद्धि" रचना का महत्त्वपूर्ण फल है। यश के साथ-ही-साथ उन्होंने अन्य प्रयोजनों की भी चर्चा की है। इस प्रकार हैं—

धर्मार्थ काममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ।
करोति प्रीति कीर्तिं च साधु काव्य निबन्धनम् ॥

इस प्रकार, काव्य रचना का प्रयोजन धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष अन्य कलाओं में सिद्धि-प्राप्ति, प्रीति एवं कीर्ति है। इन काव्य प्रयोजनों के अन्तर्गत सम्पूर्ण तथ्य समाविष्ट हैं। यही नही, एक स्थल पर आचार्य भामह ने यह बतलाया है कि लोक-व्यवहार, धर्म एवं नीति के मर्म को समझाने के लिए काव्य एक सरस माध्यम भी है।

भामह की ही भाँति आचार्य दण्डी ने भी कलाजनित आनन्द का पूर्णतया प्रसार तथा भोग साथ-ही-साथ अनेक लोकोपयोगी तथ्यों का निदर्शन काव्य का प्रयोजन माना है। काव्यादर्श की समाप्ति के पश्चात् आचार्य दण्डी ने काव्य रचना का निष्कर्ष निकालते हुए उसके प्रयोजनों की ओर ध्यान आकर्षित किया है—

व्युत्पन्नबुद्धिरमुना विधिदर्शनेन,
मार्गणदोषगुणावशवर्तिनीभिः ।
वाग्भिः कृताभिरमणे मदिरेक्षणाभिः,
धन्यो युवेव रमते लभते च कीर्तिम् ॥

दोषमुक्त एवं गुणयुक्त काव्यवाणी तथा निर्दिष्ट काव्य मार्गों द्वारा व्युत्पन्न मति वाला रचनाकार मदमस्त नेत्रों वाली रमणियों से अभिसार करता हुआ भाग्य

शाली युवक के सदृश अगाध आनन्द का अनुभव करता हुआ कीर्ति की प्राप्ति करता है। आचार्य दण्डी की ही भाँति आचार्य वामन ने भी काव्य रचना के मुख्य प्रयोजन के रूप मे प्रीति की ही चर्चा की है।

आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक के अन्तर्गत काव्य रचना का मूल लक्ष्य आनन्द ही माना है। उनके अनुसार काव्य रचना का आनन्द नामक प्रयोजन रचनाकारो को बार-बार आकर्षित करके सहृदयों को तृप्त करता है। यह सत्य है कि, काव्य के माध्यम से धर्म, अर्थ काम, मोक्ष इन चार तत्वो की प्राप्ति होती है, फिर भी उनसे भिन्न आनन्द नामक तत्व सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एव काम्य है।

आनन्दवर्धन के पश्चात् आचार्य कुन्तक ने भी काव्य प्रयोजन विषय की चर्चा की है। उन्होने बताया है कि शास्त्रादि के प्रति भीरु राजकुमारों को रमण कराने के लिए काव्य का वही उपयोग है, जो ज्वरादि व्याधियों को दूर करने के निमित्त औषधि मे मधु प्रयोग की—

कटुकौषधवच्छास्त्रमविद्याव्याधि नाशनम् ।
आह्लादमृतवत् काव्यमविवेकगदापहम् ॥

उनके अनुसार काव्य का यह व्यावहारिक पक्ष है।

काव्य प्रयोजन के विषय मे सर्वाधिक व्यावहारिक टिप्पणी आचार्य मम्मट की है, मम्मट कहते हैं—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परिनिवृत्तये कान्तासम्मितयोपदेशयुजे ॥

उनके अनुसार काव्य के छः प्रयोजन हैं—यशवृद्धि, धनार्जन, लोकव्यवहार का ज्ञान, शिवेतर तत्वों से रक्षा, कान्तासम्मितया उपदेश तथा सद्यःपरिनिवृत्ति।

आचार्य मम्मट द्वारा निर्दिष्ट यशवृद्धि तथा धनार्जन—ये दो प्रयोजन रचनाकार के लिए है। रचनाकार काव्य रचना के माध्यम से अक्षय यश की प्राप्ति करता है, साथ ही, राजाश्रय प्राप्त करके धनार्जन भी प्राप्त करके समृद्ध लोकजीवन यापन करता है। मध्यकाल मे राजाश्रय से कवि एवं कवि के द्वारा राजा की कीर्ति का परस्पर विस्तार होता है। राजशेखर ने काव्यमीमांसा के अन्तर्गत बताया है कि राजा के लिए कवि और कवि के लिए राजा के सदृश कोई उपकारी नही होता और दोनों एक दूसरे की कीर्ति के विस्तार में मदद करते हैं—

ख्याता नराधिपः कवि संश्रयेण,
राजाश्रयेण च गता कवयः प्रसिद्धि।
राजा समो अस्ति न कवेः परोपकारी,
राज्ञा न चास्ति कविनासदृशः सहायः ॥

इस प्रकार राजाश्रय न केवल धनार्जन के निमित्त अपितु कवि के यश वृद्धि मे भी सहायक होता है। काव्य के तीन उद्देश्य लोकहित से सम्बद्ध हैं और चतुर्थ प्रयोजन का उद्देश्य कला-जनित रचना तत्त्व का पाठक द्वारा आस्वादन है। काव्यास्वादन का सृजन कवि का मूल उद्देश्य है, और यह रचना का अन्तवर्ती तत्त्व है। सद्यः परिनिर्वृत्ति का अर्थ है, काव्य रचना के सम्पर्क में आते ही उसके प्रभाव से हृदय का भावनिमग्न होकर आनन्दित हो उठना। रचना का यह कलाधर्म है। इस कलाधर्म की सृष्टि रचनाकार और रचना का नैसर्गिक धर्म है। शेष तीन काव्य प्रयोजन लोकव्यवहार से जुडे हैं। काव्य की रचना "शिवेतर तत्वो" से रक्षा के लिए की जाती है। यह वैयक्तिक एवं सामाजिक दोनों स्तरो पर सम्भव है। बाद के—(क) लोक व्यवहार का ज्ञान, (ख) कान्तासम्मित उपदेश ये दो महत्वपूर्ण सन्दर्भ हैं। इन्ही दो प्रयोजनो का सन्दर्भ काव्य रचना की बृहत्तर आयामधर्मिता से है। काव्य के अन्तर्गत सम्पूर्ण लोक जीवन तथा सामाजिक आचरण की पुनर्रचना की जाती है। इस पुनर्रचना के अन्तर्गत सम्पूर्ण समाज का व्यावहारिक प्रतिपालन विम्बित होता है और यही विम्बन सम्पूर्ण समाज के लिए उपयोगी है।

"कान्तासम्मितया उपदेश" रचना का उससे भी महत्त्वपूर्ण धर्म है। काव्य यह निर्देश नही देता कि क्या करणीय है और क्या करणीय नही है। वह रचना के अन्तर्गत एक परिस्थिति उत्पन्न करता है और इस परिस्थिति को कला तथा कल्पना कौशल के द्वारा निर्मित करके रचना के लक्ष्य के अनुसार आचरण करने के निमित्त पाठक को विवश कर देता है। रामायणकार प्रत्यक्षत. यह उपदेश नही देता कि व्यक्ति राम की भाँति आचरण करे या रावण की भाँति, वह रचना के अन्तर्गत उन परिस्थितियों को उत्पन्न कर देता है कि पाठक राम की भाँति आचरण करने के लिए स्वयं मन बना लेता है, न कि रावण की भाँति। पाठक के हृदय मे स्वतः निर्देश उत्पन्न कराना रचना का अन्तवर्ती प्रयोजन है। यह अन्तवर्ती प्रयोजन रचनाकार के मन्तव्य से जुडा रहता है। कविराज विश्वनाथ ने बताया है—

चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पप्रियमपि।
काव्यादेवयतस्तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते ॥

इन वाक्यों के माध्यम से मूलतः परम्परित काव्य प्रयोजनो की ही चर्चा की गई है। आचार्य मम्मट ने परम्परा में कथित काव्य प्रयोजनों पर पूर्णतः विचार करके उनको सूत्ररूप में रखते हुए अन्तिम परिणति प्रदान कर दी है। उनके पश्चात् जो भी विचार इस सम्बन्ध में प्रस्तुत किये गये है, वे पृष्ठपेषण मात्र हैं।

काव्य हेतु

काव्य हेतु का अर्थ है, काव्य सृजन के आन्तरिक हेतु। इस प्रकार काव्य रचना की निष्पत्ति के प्रेरक उपादान कौन-कौन से है, इसकी चर्चा काव्यहेतु के अन्तर्गत की जाती है। इस सम्बन्ध मे परम्परा के काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने व्यापक चर्चा की है। आचार्य भामह से लेकर कवि केशव मिश्र तक इन विषयो पर व्यापक चर्चा की है। संक्षेप मे, काव्य हेतु पर उठाये गए प्रश्न इस प्रकार हैं। आचार्य भामह ने काव्यहेतु के सम्बन्ध मे निम्नलिखित रूप से विचार किया है—

शब्दार्थाभिधेये विज्ञाय कृत्वाद्विदुपासनाम्।
विलोक्यान्यनिबन्ध्याश्च कृत्वा काव्यक्रियादरः।।

शब्द तथा अर्थ का सम्यक् ज्ञान करना, काव्यमर्मज्ञो की उपासना करना तथा अन्य रचनाओ का अवलोकन करके काव्य रचना मे प्रवृत्त होना चाहिए। कुल मिलाकर अभ्यास ही काव्य रचना का मूल हेतु है। यही नही, प्रतिभा को मूलहेतु के रूप मे स्वीकृति देते हुए वे कहते है—

काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः।।

अर्थात्, काव्य किसी-किसी प्रतिभाशाली में कभी-कभी स्फुरित होता है।

इस प्रकार, आचार्य भामह काव्य रचना के दो हेतुओं की चर्चा करते है— (1) प्रतिभा, (2) अभ्यास।

काव्यहेतु के सम्बन्ध मे सबसे पहली बार चर्चा आचार्य दण्डी करते हैं। उनके अनुसार काव्यहेतु निम्नवत् है—

नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहुनिर्मलम्।
अमन्दाश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्य सम्भवः।।

इस वाक्य के माध्यम से, आचार्य दण्डी ने यह समझाने की कोशिश की है कि नाना प्रकार के शास्त्रो के ज्ञान तथा काव्य के निरन्तर अभ्यास के कारण ईश्वर प्रदत्त नैसर्गिक प्रतिभा काव्य रचना में प्रवृत्त होती है। काव्य रचना के इच्छुक व्यक्ति को आलस्य का परित्याग करके इसमे प्रवृत्त होना चाहिए। आचार्य कुन्तक प्रतिभा को काव्य हेतु के रूप मे स्वीकार करता है। उसके अनुसार नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा सर्वथा अपूर्व निर्माण मे सक्षम है, और वही काव्य हेतु है। राजशेखर ने काव्यमीमासा के अन्तर्गत काव्य के चार हेतुओं की चर्चा की है—

(1) प्रतिभा, (2) व्युत्पन्नता, (3) समाधि, (4) अभ्यास

आचार्य मम्मट काव्य हेतु की चर्चा करते हुए बताते हैं।

शक्तिनिपुणता लोकशास्त्र काव्यापवेक्षणात्।
काव्यज्ञ शिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुभ्वे।।

शक्ति (प्रतिभा), निपुणता तथा अभ्यास ये काव्य के तीन हेतु है। परवर्ती आचार्यों में भोज, अग्निपुराणकार, कविराज विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ आदि सभी काव्य हेतु के अन्तर्गत इन्ही तीनो तत्त्वों की चर्चा करते है।

विद्वानो में सबसे अधिक प्रतिभा के पक्ष मे हैं। इसमे प्राय. दो मत है प्रथम के अनुसार केवल प्रतिभा ही काव्यहेतु के रूप मे प्रतिष्ठित है। वही एक मात्र काव्यरचना को प्रेरित करने वाली दृष्टि है। दूसरे मत के अनुसार काव्यप्रतिभ ही केवल काव्यहेतु नही है। अन्य तत्त्वों यथा व्युत्पन्नता तथा अभ्यास की रचना के लिए आवश्यकता पडती है। अलंकार शेखर के अन्तर्गत केशव मिश्र बताते हैं—

प्रतिभा कारणं तस्य व्युत्पत्तिस्तुविभूषणम्।
भृशोत्पत्तिकृदभ्यास काव्यस्यैषा व्यवस्थिति ॥

प्रतिभा—काव्यहेतुओ में प्रतिभा का स्थान सर्वोपरि है। प्रतिभा क्या है? इस सम्बन्ध में आचार्यों मे मतभेद है। प्रतिभा के सम्बन्ध में विद्वानों ने इस प्रकार के लक्षणो का निर्देश किया है—

(1) **वामन** :—इनके अनुसार यह जन्मजन्मान्तर से सचित संस्कार विशेष है। आचार्य रुद्रट भी इसी तथ्य को स्वीकार करते है।

(2) **आचार्य आनन्दवर्धन** :—इनके अनुसार प्रतिभा रचनाकार की नूतन निर्माणसक्षमा प्रज्ञा है। आचार्य अभिनवगुप्त इसी सन्दर्भ में प्रतिभा को स्वीकृति प्रदान करते है। उन्होने प्रतिभा के लिए "प्रतिभा अपूर्ववस्तुनिर्माण सक्षमा" पद का प्रयोग किया है। उन्होने एक अन्य स्थल पर बताया है कि सर्वथा मौलिक, सर्वथा अद्भुत को रचकर प्रस्तुत करने वाली प्रज्ञा का नाम प्रतिभा है।

आचार्य भट्टतौत :—उनके अनुसार "नवनोन्मेषशालिनी" प्रज्ञा ही प्रतिभा है। यह सर्वथा नूतन एवं अद्भुत की रचने की प्रति जागरूक रहती है।

आचार्य राजशेखर—सर्वथा अपूर्वता एवं नूतनता का निर्माण करने वाली शक्ति का नाम प्रतिभा है। आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार वर्णन के अनुकूल शब्दार्थ प्रस्तुत करने वाली कवि शक्ति का नाम प्रतिभा है।

इस प्रकार विविध विद्वान् प्रतिभा का अर्थ विवेचन अपने ढंग से करते हैं। रचना प्रक्रिया मे अद्भुत निर्माण करने की सामर्थ्य से युक्त कवि की प्रज्ञा शक्ति का नाम प्रतिभा है। काव्यहेतुओ मे प्राय. सभी की दृष्टि में यह अग्रगण्य है और उसके अभाव में श्रेष्ठ कविता की रचना सम्भव नही है।

व्युत्पन्नता—व्युत्पन्नता का अर्थ संस्कार मार्जन है। संस्कार मार्जन का अर्थ है—बहुज्ञता का अर्जन एवं प्रतिभा से उसे संयोजित करना। शास्त्रज्ञान, लोकज्ञान, परम्परा, शब्दस्मृति, अभिधानकोश, छन्दशास्त्र, चित्रकला, काव्यकला आदि की

समग्रता से मण्डित करना ही व्युत्पन्नता है। प्रतिभा के साथ विविध परम्पराओं के ज्ञानादि तत्त्व यदि रचना मे नही है, तो वह अपने को सम्पूर्णतः स्फुरित नहीं कर पाती, ऐसी स्थिति मे उसके लिए व्युत्पन्नता एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। इस व्युत्पन्नता को अनेक प्रकार से परिभाषित किया गया। राजशेखर ने अपने पूर्ववर्ती मतो का इस सन्दर्भ मे उल्लेख करते हुए बतलाया है कि उनके अनुसार "बहुज्ञता" ही व्युत्पन्नता है। उनके अनुसार कवि का उचित अनुचित का विवेक ही बहुज्ञता है। परम्परा मे मगल जैसे आचार्य भी हैं, जो व्युत्पन्नता को सर्वश्रेष्ठ तत्त्व मानते हैं किन्तु यह मत किसी को स्वीकार्य नही है।

अभ्यास—काव्य हेतु के रूप मे अभ्यास को तीसरे स्तर पर रखा गया है। इस प्रकार की दृष्टि प्राय सभी विद्वानो की रही है। सभी मानते हैं कि अभ्यास रचना प्रक्रिया मे एक आवश्यक तत्त्व है किन्तु प्रमुखता की दृष्टि से यह सर्वोपरि नहीं है। प्राय सभी आचार्यों के अनुसार कवि के लिए शास्त्रादि के निरन्तर अध्ययन के साथ का नित्यश. अभ्यास उसकी व्युत्पन्नता तथा प्रतिभा को तीक्ष्ण बनाता है। निरन्तर अभ्यास के कारण सम्प्रेषणधर्मिता तथा कला रचना की अपूर्णता में एक नवीन दृष्टि उत्पन्न होती है। इस प्रकार, काव्य रचना का निरन्तर अभ्यास एक आवश्यक काव्य हेतु है। आचार्य दण्डी ने यहाँ तक कह डाला कि यदि काव्य-प्रतिभा नही है तो भी श्रमपूर्वक सरस्वती की निरन्तर उपासना करता हुआ कवि उनके अनुग्रह का अधिकारी हो जाया करता है—

श्रुतेनयत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्।
ततस्त्द्रैरनिशं सरस्वती श्रमादुपास्या खलुकीर्तिमीप्सुभिः॥

इस प्रकार प्रतिभा, अभ्यास एवं व्युत्पन्नता काव्य रचना के तीन हेतु हैं और तीनों की परिपूर्णता के बिना श्रेष्ठ रचना का स्फुरण सम्भव नहीं है।

काव्यात्मा

भारतीय काव्यशास्त्र मे काव्यात्मा का प्रश्न प्रायः उठाया जाता है। काव्यात्मा का यह प्रश्न प्रमुखता से सम्बन्धित है। शरीर के साथ काव्य रूपक की अवधारणा के साथ-साथ काव्यात्मा का प्रश्न खड़ा हुआ है। यदि गुण शरीर में स्थित गुण की भाँति है, रीति अग संस्थान की भाँति है, अलंकार, अलंकार की भाँति हैं तो काव्य का मूल चैतन्य (आत्मा) क्या है? यह प्रश्न इसी रूपक के साथ स्वतः उठ खडा हुआ है। इस काव्य रूपक का प्रारम्भ आचार्य वामन ने किया था, और रीति के सम्बन्ध में ही उन्होने इस प्रश्न को स्वय उठाया कि काव्यात्मा के रूप में किसे स्वीकृति दी जाए। आचार्य वामन द्वारा उठाये गये "काव्यात्मा" के इस प्रश्न का विवाद 17वी शती तक चलता रहा और अन्त में स्थापित किया गया कि रस

ी काव्य का सर्वश्रेष्ठ तत्त्व है। विभिन्न आचार्यों ने काव्यात्मा के सम्बन्ध में इस कार टिप्पणी दी है—

(1) वामन—रीतिरात्मा काव्यस्य

(2) आनन्दवर्धन—काव्यात्मा ध्वनिः

(3) कुन्तक— नूतनोपाय निष्पन्नमवर्त्मोपदेशिनम्।
महाकवि प्रबन्धानाम सर्वेषामस्ति वक्रता॥
× × ×
विचित्रो यत्र वक्रोक्तिः वैचित्र्यं जीवितायते।

(4) भामह— न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्।

(5) क्षेमेन्द्र— औचित्य रस सिद्धस्यास्थिर काव्यस्य जीवितम्।

इस प्रकार विभिन्न आचार्यों ने अपने-अपने ढंग से काव्यात्मा की स्थिति पर प्रकाश डाला है।

आचार्य केशव मिश्र —

त्रिविधस्यापि दोषास्तु त्याज्याः श्लाघ्या द्वये गुणाः।
अलङ्कारस्तु शोभार्यं रस आत्मा परे मनः॥

इस प्रकार क्रमशः रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति, औचित्य, अलंकार एवं रस को अपने-अपने दृष्टिकोण से सर्वतोत्कृष्ट सिद्ध करते हुए आचार्यों ने स्वमत विवेचन किया है। संक्षेप मे, इसका निष्कर्ष इस प्रकार है—

आचार्य वामन ने रीति को काव्यात्मा के रूप मे विवेचित करते हुए बताया है कि आत्मा का अर्थ काव्य का प्रधानभूत तत्त्व होना है। उनके अनुसार "रीति" काव्य का प्रधानभूत तत्त्व है। इसके लिए उन्होंने तीन तर्कों का उपयोग किया है—

(1) रीति को अतिशय महत्त्व देकर

(2) काव्य शरीर रचना के मूल स्वरूप मे रीति को विवेचित करके

(3) सम-सामयिक सम्पूर्ण काव्य तत्त्वो का रीति में समाविष्ट कराकर

(1) वामन के अनुसार रीति काव्य का सर्वतोत्कृष्ट तत्त्व है क्योंकि काव्य की सम्पूर्ण सम्पदा गुण मे है और रीति में प्रविष्ट होकर पूर्णत. शोभित होता है। यही नही, रीति वह सिद्ध रचना विधान है, जहाँ वाङ्मय मधुवर्षा करता है। वे इसे परिभाषित करते हुए कहते हैं—

(1) रीणान्ति गच्छन्ति गुणा अस्यां अर्थात् रीति वह है जिसमे सम्पूर्ण गुण प्रवेश कर जाते हैं।

(2) रीयते क्षरति वाङ् मधुधारेति इति रीतिः अर्थात्, जहाँ वाणी मधुधारा की वर्षा करती है, वह रीति है।

इस प्रकार सम्पूर्ण गुण सम्पदा का आस्वादन कराती हुई रीति ही काव्य-आत्मा है, इस प्रकार की स्थापना आचार्य वामन ने दी है।

आचार्य वामन के अनुसार काव्य का सम्पूर्ण अस्तित्व उसके शरीर के कारण हैं। वे कहते है कि जैसे रेखाओ में चित्र अवस्थित रहता है, उसी प्रकार रीतियो मे काव्य। काव्य रीति शब्दार्थ रूपी शरीर काव्यगुणों के संयोग से धारण करता है और जैसे शरीर के अस्तित्व के कारण ही शरीर मे अन्य सत्ताएँ अस्तित्ववान होती है, उसी प्रकार शब्दार्थ रूप काव्य शरीर के ही कारण रीति काव्यात्मा है। यह उत्कृष्ट एवं सर्वोपरि इसी कारण है क्योंकि यही सम्पूर्ण काव्यसिद्धान्तो के लिए आधार है। आचार्य वामन के अनुसार तीसरा तर्क रीति में शेष सिद्धान्तो का समाहार द्वारा बनता है। उनके अनुसार अलंकार गुण की अतिशयता के विधायक धर्म हैं और रीति गुणवती रचना का नाम है—अतः अलंकार का भी दायित्व रीति की अतिशयता की वृद्धि है। गुण स्वयं रीति मे समाविष्ट होकर अपनी परिपूर्णता प्राप्त करता है और इस कान्ति नामक गुण में प्रविष्ट होकर अन्ततया रीति को ही सम्पुष्ट करता है। इस प्रकार गुण, अलंकार तथा रस सभी रीति मे समाविष्ट होकर उसके महत्त्व की वृद्धि करते हैं। इन तत्त्वो को ध्यान में रखकर आचार्य वामन कहते है कि रीति प्रधानभूत तत्त्व होने के कारण काव्यात्मा है।

अलंकार तथा वक्रोक्ति क्रमशः काव्य के महत्त्वपूर्ण धर्म कहे गए है। अलंकार-वादियो ने यह स्पष्ट किया है कि अलंकार के अभाव मे काव्य सम्भव नही है। आचार्य भामह तथा अन्य अलकार समर्थकों ने इसके अस्तित्व को अपरिहार्य माना है। इनके अनुसार यदि चमत्कृति या अन्तश्चमत्कार रचना का मूल मध्य है तो इसके विधायक धर्म का नाम अलंकार है। अन्तश्चत्कार का अर्थ है, कौशलजन्य अलंकार। यही नही, अनेक आलंकारिको ने यह तर्क दिया है कि हृदय को मुग्ध कर देने वाली वाणी के अतिरिक्त काव्य और क्या है? इनका कथन है कि "यावन्तो-हृदयावर्जनप्रकारा : तावन्तो एव अलंकारा" अर्थात्, हृदय को अभिभूत कर लेने वाले जितने भी प्रकार हो सकते है, उतने ही अलंकार सम्भव हैं। इस प्रकार काव्य एक विशेष प्रकार की कलात्मक उक्ति होने के कारण अलकारधर्मी है, अतः अलंकार काव्य का अनिवार्यभूत एवं सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है।

इसी प्रकार वक्रोक्ति के विषय में भी कहा जा सकता है। आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को सर्वथा सबसे अधिक जीवन्त के रूप मे स्वीकृति दी। प्रथम तो यह कि वक्रोक्ति रचना मे वर्णविधान से लेकर प्रबन्धविधान तक व्याप्त है, अतः उससे रचना को मुक्त नही किया जा सकता। दूसरा तर्क, इस सम्बन्ध मे यह दिया जाता है कि अलंकार या अलंकार्य चाहे जहाँ हो, जो भी लेशमात्र लावण्य, भंगिमा, चमत्कृति, चारुता आदि कवि द्वारा रचित है, वह वक्रता है। मूलतः यह वक्रता शब्दार्थ मे पूर्णतः व्याप्त है और उसके अभाव मे काव्य सम्भव नही है।

3

भारतीय काव्यशास्त्र के विविध सिद्धान्त और उनकी समस्याएँ

भारतीय काव्यशास्त्र के विविध सिद्धान्तों को निम्नलिखित दृष्टियों से विभक्त किया गया है।

(1) भाषा तथा रचना कौशल की दृष्टि से
(2) विधान की दृष्टि से
(3) कवि शिक्षा एवं काव्य प्रयोग की दृष्टि से
(4) पाठक की दृष्टि से
(5) अभिनय विज्ञान की दृष्टि से

(1) भाषा तथा रचना कौशल की दृष्टि से गुण, रीति तथा काव्यदोष सिद्धान्त विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। सामान्य रूप से काव्यपाठ तथा काव्यशैया, गुम्फन एवं काव्यलक्षण आदि सिद्धान्तों का सम्बन्ध काव्यभाषा से ही जुड़ा था। धीरे-धीरे इन सिद्धान्तो के समाप्त हो जाने के बाद गुण, रीति तथा काव्यदोष ये ही तीन सिद्धान्त विशेष रूप से प्रचलन में रहे।

(2) विधान की दृष्टि से अलंकार सिद्धान्त एवं वक्रोक्ति सिद्धान्त को विशेष महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

(3) कविशिक्षा एवं काव्य प्रयोग की दृष्टि से कविशिक्षा, औचित्य एवं कविवर्णन का विशेष स्थान बताया गया है।

(4) भारतीय काव्यशात्र मे पाठक की दृष्टि से "रस सिद्धान्त" का विवेचन किया गया है। मूलत: रचना के कलात्मक परिवेश से सम्बन्धित होकर पाठक का मन किस प्रकार प्रभावित होता है और पाठक तथा रचना के बीच होने वाले उनके पारस्परिक भावात्मक अन्तसम्बन्धों का मनोविज्ञान ही रसशास्त्र है।

(5) भारतीय चिन्तन के अनुसार नाटक भी काव्य ही है। सामान्य रूप से पाठ्य से भिन्न यह दृश्य सरणि से सम्बद्ध है और यहाँ कविता वाच्य एवं पाठ्य न होकर लक्ष्य हो जाती है। इस काव्यविधा को नाटक की संज्ञा दी गई और इसके सन्दर्भ मे नाट्यशास्त्र की परिकल्पना की गई।

संक्षेप में, इन्हीं सिद्धान्तो का विवेचन इस निर्दिष्ट क्रम मे अपेक्षित है—

काव्य गुण

परिभाषा एवं स्वरूप—आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र के अन्तर्गत सर्वप्रथम गुण की परिभाषा की ओर इंगित किया। इनके अनुसार गुण का कार्य है काव्य को सौन्दर्यमण्डित करना—

अलंकारैश्चगुणश्चैव बहुभि: समलंकृत।

अर्थात्, अलंकार और गुण का कार्य है, कविता को समलंकृत करना। समलंकृत शब्द का अर्थ है, समनुपातिक सौन्दर्यविधानों से कविता को अलंकृत करके उसे आकर्षण का विषय बनाना। यद्यपि यह परिभाषा बहुत स्पष्ट नही है, फिर भी, इसमे गुण धर्म का वैशिष्ट्य परिलक्षित हो जाता है और यह भी स्पष्ट हो जाता है गुण एवं अलंकार की रचनात्मक प्रवृत्ति एवं कोटि एक ही प्रकार की है।

आचार्य दण्डी, "अलंकार और गुण की एक जैसी परिभाषा देते हैं। वे अलंकार को परिभाषित करते हुए कहते है—

"काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते।"

काव्य के शोभा विधायक धर्म का नाम अलंकार है। मूलतः गुण का कार्य है, रचना के सौन्दर्य का विधान करना किन्तु दण्डी उसे अलंकार धर्म मानते हैं। इस प्रकार उनकी यह परिभाषा न केवल स्वरूप अपितु गुण के धर्म को भी स्पष्ट करती है और आचार्य भरत की उसी परम्परा को स्पष्ट करती है जिसमे गुण तथा अलकार को एक ही सरणि के अन्तर्गत रखा गया है।

बाद मे आलंकारिकों ने गुण तथा अलंकार के पारस्परिक सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए दोनो की मूल वृत्तियों को पृथक्-पृथक् रूप से विवेचित किया और उनकी स्थिति स्पष्ट की। आचार्य भामह गुण एवं अलंकार के स्वभाव को स्पष्ट करते हुए बताते हैं—

समवायवृत्या शौर्यादय: संयोगवृत्त्या तु हारादय:, गुणालंकाराणां भेद:।

मानव में शौर्यादि धर्म की भाँति अनिवार्य धर्म के रूप मे काव्य का गुण से

सम्बन्ध है किन्तु अलंकार रचना का अनिवार्य तत्त्व नहीं है। अलंकार कविता का सम्बन्ध संयोग वृत्ति का अर्थात् औपचारिक है।

आचार्य वामन गुण को परिभाषित करते हुए कहते हैं—

"काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः" अर्थात् काव्य के शोभा विधायक धर्म का नाम अलंकार है। कविता का कलेवर "शब्द" एवं "चैतन्य" अर्थ के मूल कारण गुण हैं। यदि कविता का विवेचन किया जाए तो शब्दार्थ के 'भौतिक तत्त्व' ही उसके कारण है। रचना की किसी विशिष्ट परिस्थिति में उत्पन्न उसकी शब्दार्थ प्रवृत्ति का सम्बन्ध गुण है और चूँकि कविता शब्दार्थ से भिन्न नहीं हो सकती अतः वह गुण शून्य भी नहीं हो सकती। इसीलिए आचार्यों ने शब्द एवं अर्थगुण को भिन्न भिन्न रूपों में चर्चा की है। अनेक शब्द सुनकर, ललित, ओजयुक्त तथा उसके अर्थ भी सुनकर, प्रीतिकर, रुचिकर, ओजयुक्त प्रतीत होते हैं और ये धर्म भाषा के नैसर्गिक स्वभाव के रूप में हैं। इस प्रकार, आचार्य वामन के अनुसार काव्य के भौतिक धर्म रूप तत्व भाषा एवं अर्थ के नैसर्गिक विधायक तत्त्व को नाम गुण है। इसीलिए अल-कार की तुलना में आचार्य वामन इन तत्त्वों का नित्य एवं सनातन मानते हैं। इन गुणों के बिना काव्य में सौन्दर्य की उत्पत्ति सम्भव नहीं है, जबकि अलंकार रचना के अनित्य धर्म हैं और इनके बिना भी रचना-सौन्दर्य की वृद्धि सम्भव है—

"पूर्वे गुणाः नित्याः तर्विना काव्यशोभानुपपत्ते :

उन्होंने अपने इस कथन की पुष्टि के लिए एक उद्धरण दिया है—

"यदि कोई कविता गुण से रहित है तो वह युवती के यौवनरहित देह के समान है—(जैसे यौवन रहित देह को अलंकार शोभित नहीं करते, उसी तरह गुण रहित काव्य लोकप्रसिद्ध अलंकारों से युक्त होने पर भी शोभित नहीं होते।)

आगे चलकर आचार्यों ने दण्डी की गुण सम्बन्धी इस धारणा का विकास नहीं किया। मूलतः काव्यभाषा एवं अर्थविधान के भौतिक स्वरूप से सम्बद्ध होने के कारण गुण के सम्बन्ध में अधिक गहनतापूर्वक विचार किया जा सकता था, किन्तु परवर्ती आचार्यों में भोजराज के अतिरिक्त इसकी शक्ति और सामर्थ्य पर किसी ने गम्भीरता-पूर्वक विचार नहीं किया। सामान्यतया आचार्य भामह की परिपाटी में रचना के अनिवार्य धर्म के रूप में इसे "रस" से जोड़कर देखने की चेष्टा की गयी और इस क्रम में आचार्य आनन्दवर्द्धन इसे निम्नवत् परिभाषित करते हैं—

जो उस प्रधानभूत (रस) अङ्गिन् के आश्रित हैं, वे गुण हैं। इस प्रकार उनके अनुसार रचना में रसाश्रित धर्म का नाम गुण है।

इसी क्रम में आचार्य मम्मट गुण को परिभाषित करते हैं

ये रसस्याङ्गिनो धर्मा शौर्यादिव आत्मनः।
उत्कर्ष हेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणा ।।

अर्थात् काव्य के प्रधानभूत (अङ्गिन तत्त्व) सत्त्व रस के आश्रित धर्म जो आत्मा के स्वयंभूत शौर्यादि धर्मों की भाँति है अचल भाव से उसमें वर्तमान होकर उस (रस) के उत्कर्ष साधन बनते हैं, वे गुण हैं। इस प्रकार आचार्य मम्मट ने गुण के तीन तत्त्वों की ओर उल्लेख किया है—(1) काव्य में रस अङ्गिन धर्म है और गुण उसके सहायक, (2) ये सहायक धर्म सनातन हैं, (3) उन सहायक सनातन तत्त्वों का कार्य है "रसोत्कर्ष करना" आचार्य भोज ने कविता के मौखिक शब्द तथा अर्थ गुण की चर्चा विस्तारपूर्वक की है। गुण को परिभाषित करते हुए वे बताते हैं—

अलक्रुतमपि श्रव्यं न काव्यं गुणविवर्जितम् ।
गुणयोगतयोमुख्यो गुणालंकार योगयतेः ।।

कविता अलंकृत होती हुई भी गुणयोग से समादृत होती है, वह इसीलिए कि वह (गुण) उसका अनिवार्य तथा अपरिहार्य धर्म है। गुण से विवर्जित काव्य का कोई अस्तित्व नहीं है।

इस प्रकार "गुण" काव्य रचना का अनिवार्य तत्त्व है। यह मुख्यतः उसकी भाषिक एवं अर्थगत मौलिक प्रकृति का विधायक होने के कारण उससे अनिवार्यतः जुड़ा है और अपनी विशिष्ट परिस्थिति के कारण पाठक में रसास्वादन का वातावरण सृजित करता है। आचार्य कुन्तक ने काव्य रचना की समग्र सौन्दर्य सम्पदा को गुण की संज्ञा दी है—

असमस्त मनोहारि पद विन्यासजीवितम् ।
माधुर्य सुकुमारस्य मार्गस्य प्रथमो गुणाः ।।
आभिजात्य प्रभृतयः पूर्वमार्गोदिता गुणाः ।
अत्रातिशयात्मायान्ति जनिताहार्य सम्पदः ।।

गुणों की संख्या—आचार्य भरत ने गुणो की सख्या 10 बताई है श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, पदसुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, कान्ति।

इन दस गुणो की स्थिति का निर्देश करते हुए वे पुनः बताते हैं कि ये दोष गुणो के विपर्यय स्वरूप होते है। आचार्य दण्डी भी भरत के ही अनुक्रम में इन्हीं दस गुणो की चर्चा करते है। आचार्य वामन ने गुणो को मुख्यतः दो भागों में विभक्त करके इनकी संख्या क्रमशः 10-10 अर्थात् 10 शब्द गुण एवं 10 अर्थगुण बताई है। इन तीनों आचार्यों के गुण लक्षण मे थोडी भिन्नता अवश्य है—

गुण	भरत	दण्डी	वामन शब्द गुण	वामन अर्थगुण
(1) श्लेष	सार्थक पदों का आश्लेष	अशिथिल पद	मसृणता	क्रम और कुटिलता का अभाव
(2) प्रसाद	अर्थ का सुखकर बोध होना	अर्थ की सरलता	ओजयुक्त सरलता	अर्थ की विमलता
(3) समता	पदों में अन्योऽन्य समता	विषमता रहित पद रचना	प्रारम्भ से अंत तक एक ही पद्धति	अविषम बन्ध
(4) माधुर्य	अनुद्वेजक पदावली	रसवाही भाषा	समास वियुक्त पदावली	उक्ति वैचित्र
(5) सुकुमारता	सुख से बोले जाने वाले शब्द समूह	कोमलाक्षर	अपरुष शब्द	अपरुष अर्थ
(6) अर्थव्यक्ति	अर्थ का अविलम्ब बोध होना	अर्थ की मसृणता	आशु अर्थबोध	वस्तु भाव की स्फुटता
(7) उदारता	सुन्दर कथन	मनोहर विशेषणों की भाषा	अग्राम्यता	पदों का नृत्य करते हुए प्रतीत होना
(8) ओज	शब्दार्थ की उदात्तता	विशेषणों की भाषा	पदबन्ध गाढ़ता	प्रौढ़ि
(9) कान्ति	मन एवं कानों के लिए सुखद भाषा	रसात्मक वर्णन	उज्ज्वलता	रसदीप्ति

आचार्य हेमचन्द्र भी गुणों की संख्या 10 ही मानते है।

आचार्य भोज गुणों की संख्या 24 बताते हैं—श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, कान्ति, उदारता, उदात्त, ओज, उज्र्वसित, प्रेयस, सुभगता, समाधि, सूक्ष्मता, गम्भीरता, विस्तार, संक्षेप, समतात्व, भाषिकतत्त्व, गति, रीति, उक्ति, प्रौढ़ि।

सामान्य रूप से उन्होने गुणों को शब्दगुण, अर्थगुण एवं उभयगुण इन तीन श्रेणियों में रखा है। चमत्कार चन्द्रिका के रचनाकार आचार्य विश्वेश्वर गुणो की संख्या 23 बताते हैं। श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थशक्ति, उदारता, ओज, कान्ति, उदात्तता, प्रेयस, समाधि, औषधि, सौम्य, गाम्भीर्य, विस्तार, संक्षेप, शब्द संस्कार, भाविक, सम्मति, गति, उक्ति, रीति।

इन दस गुणों से निःसृत तीन गुणो के सिद्धान्त का सर्वप्रथम प्रतिपादन आचार्य भामह करते हैं। उनके ओज, प्रभाद, माधुर्य ये तीन गुण हैं। इन्हीं तीन गुणो में ही समस्त 10 गुणो का समाहार हो जाता है—

(1) ओज—श्लेष, उदारता, प्रसाद, समाधि

(2) प्रसाद—कान्ति, सुकुमारता, समता

(2) माधुर्य—इसका अपना स्वतन्त्र रूप सर्वथा सभी गुणों से पृथक् है।

ध्वनिवादी आचार्यों मे आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त एवं मम्मट इन्हीं तीन गुणों की ही सत्ता स्वीकार करते हैं। राजशेखर भी इन्हीं तीन गुणो का अस्तित्व मानते है। आचार्य कुन्तक को बन्धधर्म को गुण की संज्ञा देते हुए उन्हें दो भागो मे विभक्त करते है—

शब्दगण	—	सौभाग्य
अर्थगण	—	लावण्य

इनका गुण विवेचन परम्परा से भिन्न कोटि का है।

गुण तथा अलंकार—गुण तथा अलंकार के बीच साम्य-वैषम्य की चर्चा काव्यशास्त्र के अन्तर्गत प्रारम्भ मे ही हो रही हैं। आचार्य भरत तथा दण्डी दोनो अलंकार तथा गुण की एक जैसी परिभाषा देते है। उनके अनुसार दोनो रचना के सौन्दर्यविधायक तत्त्व है। आचार्य दण्डी की अलंकार विषयक परिभाषा मूलतः वामन की गुण विषयक परिभाषा के समान्तर हैं। वे गुण ही नही, काव्य के अन्य समस्त तत्त्वों को अलकार के अन्तर्गत समाहित करके देखने के पक्षपाती थे और इसीलिए उनकी गुण विषयक अवधारणा भी अलंकार में समाहित दृष्टिगत होती हैं। आचार्य वामन सबसे पहली बार गुण तथा अलंकार के बीच प्रवृत्तिमूलक अन्तर स्थापित करते हैं। उनके अनुसार दोनों की पृथक्-पृथक् परिभाषाएँ इस प्रकार है—

गुण—काव्य शोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः ।
अलंकार—तदतिशयहेतवस्तेलऽकाराः ॥

काव्यशोभा के विधायक तत्त्व का नाम गुण हैं किन्तु अलकार उस शोभा की रचना न करके उसमे (शोभा) मे अतिशयता (उत्कर्ष) का विधान करते हुए हेतु का कार्य करता है। इस प्रकार आचार्य वामन के अनुसार गुण काव्य भाषा का नैसर्गिक रचनात्मक धर्म है और अलंकार इस धर्म मे अपनी योजनाओं द्वारा उत्कर्ष का विधान करता है। इस प्रकार नैसर्गिक धर्म काव्यभाषा के गुण में सम्बद्ध रहते हैं किन्तु अलंकार रचना के कृत्रिम एवं असाधारण धर्म हैं।

यही नहीं, आचार्य वामन की अवधारणा से यह भी स्पष्ट है कि रीति गुणाश्रित है और उनके प्राणभूत तत्त्व के रूप में वर्तमान है किन्तु अलंकार से गुण का कोई सम्बन्ध नहीं है। न्यूनाधिक इसका सम्बन्ध मात्र शब्दालंकार वर्ग से हो सकता है जिसे आचार्य अलंकार न मानकर गुण ही मानते हैं। यही नहीं, गुणरीति का निर्माण करते हैं किन्तु अलंकार रीति मे अपरिहार्य भाव से विद्यमान रहने के के कारण उसी धर्म के रूप मे मान्यता प्राप्त करती है। इसी प्रकार परम्परा मे नामिसाधु समस्त काव्य सिद्धान्तो के भिन्न-भिन्न नाम की स्वीकृति प्रदान करते हुए गुण तथा अलंकार के सम्बन्ध को स्पष्ट करते हैं—

काव्यस्य शब्दार्थो शरीरम् । तस्य वक्रोक्तिवास्तव्यादयः कटक कुण्डलादय ।
इव कृत्रिमा अलंकाराः । रसास्तु सौन्दर्यादिय इव सहज गुणा इति भिन्नः ॥

इसी प्रकार काव्यशरीर मे कृत्रिम आभरणों की भाँति अलंकार की स्थिति है और नैसर्गिक सौन्दर्य की भाँति गुण नितान्त सहज हैं। ध्वन्यलोक के अन्तर्गत आचार्य आनन्दवर्धन ने इन दोनो भिन्नताओ को और अधिक स्पष्ट किया है। उनके अनुसार गुण संघटना का धर्म है तथा अलंकार शब्दार्थ रचना का। संघटना का अर्थ है, शैली और इस प्रकार गुण शैली विधायक है और शब्दार्थ रचना की प्रवृत्ति से भिन्न है। इस गुण नित्य हैं और उनके बिना काव्य की शोभा का कोई अर्थ नही है किन्तु अलंकार रचना का अनित्य धर्म है। इस प्रकार निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि गुण तथा अलंकार इन दोनों में प्रकृतिगत अन्तर है। एक रचना के सहज भाषिक सौन्दर्य से सम्बद्ध है तो दूसरे का सम्बन्ध शब्दार्थ विधान के कृत्रिम रूप से।

गुण तथा रीति—गुण रीति के सम्बन्ध को आचार्य वामन ने सर्वप्रथम बार सम्बन्ध निरूपित किया रीति को आचार्य वामन गुणाश्रित मानते हैं। वे रीति की व्युत्पत्तिमूलक परिभाषा देते हुए बताते हैं—

"रीणन्ति गच्छन्ति गुणाः अस्याम्"

रीति वह है जिसमें गुण तत्त्व स्वेच्छया प्रवेश करते हैं। उनके स्वेच्छया प्रवेश करने के कारण रीति तत्त्व प्रतिष्ठित होता है। इस प्रकार रीति गुण विधायी धर्म हैं। आचार्य वामन भिन्न-भिन्न रीतियों को गुण से ही सिद्ध मानते हैं। वैदर्भी रीति का विवेचन करते हुए वामन कहते हैं कि यह समग्र (10 गुणों) से गुम्फित होती है और शेष रीतियों में इस प्रकार की स्थिति वर्तमान नहीं है। यही नहीं, इनके पूर्ववर्ती आचार्य दण्डी की भी यही धारणा रही है कि रीतियों का निर्माण गुणों से होता है और वैदर्भी रीति 10 गुणों से संयुक्त होती है। आचार्य आनन्दवर्धन रीति को संघटना की संज्ञा देते हैं। उनके अनुसार संघटना के धर्म के रूप गुण की भूमिका अपरिहार्य है अर्थात् यही गुण ही संघटना का निर्माण करते हैं। आचार्य वामन रीति का विवेचन करते हुए एक स्थल पर कहते है कि रीति काव्य की आत्मा है। चूँकि रीति का निर्माण गुणों से होता है, अतः गुणों को रीति की आत्मा कहा जाए तो कोई विसंगति नहीं होगी और इस प्रकार यदि काव्य की आत्मा रीति है, तो रीति की आत्मा गुण है।

गुण तथा रस—गुण एवं रस का परस्पर अपरिहार्य सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए आचार्य वामन ने बताया है कि कान्ति नामक गुण में श्रृंगारादि समस्त रस सन्निविष्ट रहते हैं। आचार्य वामन की इस धारणा के अनुसार गुण अङ्गिन् है तथा रस उसके अंग। परवर्ती आचार्यों को यह मत स्वीकार नहीं हुआ। उनके अनुसार काव्य में रस ही अंगिन् है और उसके अनिवार्य धर्म के रूप में गुण है। जैसे आत्मा में शौर्यादि गुण वर्तमान रहते हैं, वही स्थिति रस के सन्दर्भ में इन गुणों की है। आचार्य भोज ने इस सम्बन्ध में दो दृष्टियों का प्रतिपादन किया—रसारम्भक तथा रसारब्धक। "रसारम्भक" का तात्पर्य है, गुणों के अन्तर्गत रसों का सन्निविष्ट होना जैसे मधुर के अन्तर्गत श्रृंगार, विप्रलम्भ एवं करुण रस का स्थित होना, ओज गुण के अन्तर्गत रौद्रादि रसों का स्थित होना आदि। यही नहीं, रसारब्धक के अन्तर्गत अनेक गुण रसों के परिणाम होते हैं। मूलतः ध्वनिवादियों के इस अभिमत को यहाँ सार्थकता प्राप्त होती है कि गुण अन्ततया रसों मे ही प्रतिष्ठित रहकर उन्हें व्यक्त करते हैं।

गुण सिद्धान्त का महत्त्व—आचार्य भरत से लेकर 17वीं शती तक के समस्त आचार्यों ने गुण के महत्त्व को स्वीकार किया है। आचार्य भरत की गुण सम्बन्धी व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं—

"गुण शून्य तु न काव्यं कञ्चिदपि"

अर्थात् गुण शून्यता से काव्य की संज्ञा सम्भव ही नहीं है। आचार्य वामन गुण के अस्तित्व को प्राथमिकतापूर्वक स्थापित करने के पक्षपाती थे—

यथा विच्छिद्यते रेखा चतुरं चित्रपपिण्डतैः ।
तथैव वागपि प्राज्ञैः समस्तगुण गुम्फिता ।।

जैसे चतुर कलाकार द्वारा रेखाओं के कौशल से चित्र की सम्पूर्णता दी जाती है, उसी प्रकार काव्य को गुणों द्वारा सम्पूर्णता प्राप्त होता है। रीति को प्रतिष्ठित करते हुए आचार्य वामन ने बताया है कि यदि रीति काव्य की आत्मा है तो गुण रीति की आत्मा है। गुण अलंकारों की भाँति कविता का अस्थिर धर्म न होकर स्थायी धर्म है और वह रस के साथ सम्पूर्णतः मिलकर उसका अभिन्न तत्त्व माना जाता है। आचार्य वामन ने तो यहाँ तक कहा है कि बिना गुण के काव्यशरीर ही सम्भव नहीं है—

"काव्यं खलु गुण संस्कृतशब्दार्थ शरीरत्वात् ।"

दोष विवेचन

परिभाषा तथा स्वरूप— काव्यगुण की ही भाँति आचार्य भरत ने प्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने काव्यदोषों की चर्चा नाट्यशास्त्र में की है। उनके अनुसार दोष गुण विपर्यय रूप है—

एते दोषास्तु विज्ञेयाः सूरिभिर्नाटकाश्रयाः ।
एत एव विपर्यस्तः गुणा. काव्येषु कीर्तिता ।।

काव्य के दस गुणों के विपर्यय स्वरूप काव्य के क्या 10 दोष हो सकते हैं, इस पर विद्वानों में वैमत्य है। आचार्य भरत के इस सिद्धान्त का समर्थन आचार्य वामन करते हैं। उनका स्पष्ट कथन है कि—

"गुणा विपर्ययात्मानो दोषाः"

दोष विवेचन का यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित नहीं हो पाया क्योंकि 10 गुणों और बाद में उनकी संख्या मात्र तीन हो जाने के बाद दोषों की संख्या का क्या औचित्य बनेगा, यह स्पष्ट नहीं हो पाता।

आचार्य दण्डी एवं भामह दोष का परिभाषित कहा करते किन्तु उनसे बचने की चिन्ता अवश्य रखते हैं। आचार्य दण्डी ने काव्यादर्श में बताया है कि—

तदल्पमपि नीपेक्ष्यं काव्यं दुष्टं कथंचन ।
स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम् ।।

आचार्य भामह ने "कु कवित्व" को साक्षात् मृत्यु कहा है। हिन्दी के आचार्य केशवदास भी इसी प्रकार की चेतावनी देते है।

रंचक दोष न राजई कविता वनिता मित्त।
बुंदक हाला परत ज्यों गंगाघट अपवित्त ।।

दोष की भावात्मक परिभाषा आचार्य वामन ने ही दी है। उनके अनुसार—

काव्यसौन्दर्याक्षेप हेतवः त्यागाय दोषा ज्ञातव्याः

अर्थात् काव्यसौन्दर्य के काव्यात्मक तत्व दोष है, और रचना करते समय कवि को इनका त्याग करना चाहिए।

आचार्य आनन्दवर्धन ने "हेयता" को काव्यदोष की परिभाषा के साथ जोडने की चेष्टा की है—

श्रुतिदुष्टादयो अनित्या ये च सूचिता।
ध्वन्यात्मन्येव श्रृंगारे ते हेया इत्युदीरिता ।।

आचार्य अभिनवगुप्त दोषो को "नित्य एवं अनित्य" इन दो भागों मे विभक्त करके गुण विपर्यय सिद्धान्त का खण्डन करते हैं। आचार्य मम्मट दोष को परिभाषित करते हुए कहते है—' मुख्यार्थहतिदोषः" रस एवं तात्पर्य कविता मे मुख्यार्थ हैं और उनके विघातक तत्त्व ही दोष हैं। परवर्ती आचार्यों ने दोष का विवेचन अपने-अपने ढंग से किया है अलंकार शेखर के अन्तर्गत आचार्य केशव मिश्र ने बताया है कि—

दोषत्वं च रसोत्पत्ति प्रतिबन्धकत्वम्

काव्यरचना के अन्तर्गत रसोत्पत्ति के बाधक तत्त्व को दोष कहा जाना चाहिए।

आचार्य विद्यानाथ ने "एकावली" नामक काव्यशास्त्रीय ग्रंथ मे दोष को इस प्रकार परिभाषित किया है—

"दोषः काव्यापकर्षहेतुः"

काव्य के अपकर्ष हेतु का नाम दोष।

इस प्रकार काव्यदोष सम्बन्धी विविध परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि काव्य दोष गुणो का विपर्यय नही है। काव्य रचना के वे तत्व जिनसे काव्यधर्मिता कही भी और किंचित् मात्र क्षरित होती है, दोष के नाम से पुकारे जा सकते है।

दोष की संख्या—आचार्य भरत ने दोषो की संख्या 10 बताई है। ये इस प्रकार हैं—गूढार्थ, अर्थान्तर, अर्थहीन, भिन्नार्थ, एकार्थ, अनिप्लुतार्थ, न्यायोपेत, विषम, विसन्धि तथा शब्दच्युत।

आचार्य भामह ने दोषो की चर्चा करते हुए आचार्य मेधाविन् द्वारा गिनाए गए सप्त दोषों का उल्लेख किया है—

हीनता सम्भवो लिंगवचोभेदो विपर्ययः ।
उपमानाधिकत्वं च तेनासदृशतापि च ।
त एत उपमादोषाः सप्तमेधा विनोदितः ॥

उनके अनुसार दोषो की संख्या 11 है—

(1) **सामान्य दोष**—विलष्ट, अन्यार्थ, अवाचक, अयुक्तिमत, गूढ़ शब्द

(2) **वाणी दोष**—श्रुतिदुष्ट, अर्थदुष्ट, कल्पनादुष्ट, श्रुति कष्ट

(3) **अन्य**—अपार्थ, एकार्थ

आचार्य दण्डी काव्य मे दोष का निषेध अनिवार्य मानते है। उनके अनुसार गुण विपर्यय रूप प्रमुख दोष निम्नवत् हैं—

शैथिल्य, अनतिरुद्ध, शब्दार्थ ग्राम्यत्व, निष्ठुरत्व, नेयार्थ, अयुक्ति आदि

आचार्य वामन दोष को चार भागो में विभक्त करते हैं—

(1) **पदगत दोष**—असाधुवाद, कष्टपद, ग्राम्यपद, अप्रतीतपद, अनर्थकपद

(2) **पदार्थगत दोष**—अन्यार्थ, नेयार्थ, गूढ़ार्थ, अश्लीलार्थ, क्लिष्टार्थ

(3) **वाक्य दोष**—भिन्नवर्त, यतिभ्रष्ट, विसन्धि

(4) **वाक्यार्थ दोष**—व्यर्थ, एकार्थ, सन्दिग्ध, अप्रयुक्त, उपक्रम, लोक विरुद्ध, विद्याविरुद्ध।

साहित्यदर्पण में कविराज विश्वनाथ ने दोषो को पाँच भागों मे विभक्त किया है—

(1) पद दोष

(2) पदांश दोष

(3) वाक्य दोष

(4) अर्थ दोष

(5) रस दोष

आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश मे दोषो की संख्या 70 बताई है और इनको तीन वर्गों मे रखा है—शब्द दोष, अर्थ दोष तथा रस दोष। आचार्य मम्मट द्वारा स्वीकृति रस दोष विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। इनका आधार ध्वन्यालोक एवं लोचन है। ये इस प्रकार है—स्वशब्द वाच्यत्वदोष, कष्ट व्यक्ति दोष, प्रतिकूल विभावादिग्रहण दोष, पुन-पुन दीप्ति-दोष, अकाण्डप्रथम, अकाण्डच्छेद, अङ्गविस्तार, अङ्गिनोऽननुसंधान, प्रकृति विपर्यय, अनङ्ग अभिधान दोष।

आचार्य वामन अपने काव्यालंकार सूत्र ग्रन्थ में सबसे पहली बार दोष को परिभाषित करते हैं—

गुणविपर्ययात्मानो दोषाः

अर्थात्, गुण के विपर्य धर्म दोष हैं। मूलतः आचार्य वामन की यह परिभाषा भरत से प्रभावित है। उनके अनुसार दोष इस प्रकार है—

(1) **पदगत दोष**—असाधुपद, कष्टपद, ग्राम्यपद, अप्रतीतपद, अनर्थक पद

(2) **पदार्थगत दोष**—अन्यार्थ, नेयार्थ, गूढार्थ, अश्लीलार्थ एवं क्लिष्टार्थ

(3) **वाक्य दोष**—भिन्नवृत्त, यतिभ्रष्ट, विसन्धि

(4) **वाक्यार्थ दोष**—व्यर्थ, एकार्थ, सन्दिग्ध, अप्रयुक्त, अपक्रम, लोकविरुद्ध, विद्या विरुद्ध

परवर्ती आचार्यों ने दोष का विस्तारपूर्वक विवेचन एवं उसे परिभाषित करने का प्रयास किया। साहित्य दर्पण में कविराज विश्वनाथ ने दोष को परिभाषित करते हुए बताया है—

'रसापकर्षका दोषाः'

अर्थात्, दोष रसापकर्षक होते है। वे रस प्रतीति के बाधक बन कर काव्य के आस्वाद्य को शिथिल, दोष युक्त एवं विनष्ट कर देते हैं। वे पुनः कहते हैं—

'दूषयति काव्यमिति दोषाः'

जो काव्य तत्त्व को दूषित करते है, वे दोष हैं। वे साहित्य दर्पण के सातवे अध्याय में पुन· बताते हैं—

काव्यापकर्षका दोषास्ते पुनः पंचधा मताः।
पद पदांश वाक्यार्थ रसानां दूषणेन हि।

उनके अनुसार ये पांच प्रकार के हैं—

(1) पद दोष

(2) पदांश दोष

(3) वाक्य दोष

(4) अर्थ दोष

(5) रस दोष

आचार्य मम्मट 'काव्य प्रकाश' के अन्तर्गत काव्य दोष को परिभाषित करते हुए कहते हैं—

'मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद्वाच्यः'

मुख्य अर्थ के विघातक या अपकर्षक को दोष कहा जाता है। काव्य के मुख्य अर्थ—रसादि रूप (अर्थ) का यह अपकर्षक है। इन्होने दोषो के 70 भेदो का शब्द, अर्थ एवं रस दोष के रूप में रखा है।

हिन्दी साहित्य मे दोष के प्रबल विरोधी आचार्य केशवदास दोष विवेचकों मे अग्रगण्य हैं। उन्होंने काव्य एवं अन्य दोष के अन्तर्गत क्रमशः अंध, वधिर, पंगु,

नग्न, मृतक, अगण, हीनरस, यतिभंग, व्यर्थ, अपार्थ, हीनक्रम, कर्णकटु, पुनरुक्ति, देशविरोधी, काल विरोधी, लोक विरोध न्याय विरोध, आगम विरोध इन अट्ठारह दोषों को मान्यता दी है। आगे चलकर, रीतिकालीन कवियों ने इस विषय पर संस्कृत साहित्य की परम्परा के अनुक्रम में विशेष विस्तार से विचार किया है। सामान्यतया दोषों को तीन भागों में विभक्त किया जाता है।

(1) शब्द दोष
(2) अर्थ दोष
(3) रस दोष

शब्द दोष

श्रुतिकटुत्व

आचार्य वामन ने इसका नाम 'कष्ट' दिया है। इसको परिभाषित करते हुए कहा है कि—'श्रुतिविरसं कष्टम्' अर्थात् सुनने में रसहीन श्रुतिकटु कष्ट दोष है। आचार्य केशवदास ने इसे कर्णकटु दोष कह कर इस प्रकार परिभाषित किया है—

कहत न नीको लागई, सो कहिये कटु कर्ण।
केशवदास कवित्त में, भूलि न नाको वर्ण।

शृंगार आदि में रसो में रौद्र एवं वीरता को प्रदर्शित करने वाले कठोर वर्णों का प्रयोग आदि।

च्युति संस्कृति

आचार्य वामन ने इसे 'असाधु' नाम से पुकारा है। वे इस प्रकार परिभाषित करते हैं—शब्द स्मृति विरुद्ध असाधु-व्याकरण विरुद्ध शब्दादि का काव्य में प्रयोग च्युति संस्कृति है।

मरम बचन सीता जब बोला। हरि प्रेरित लछिमन मन डोला।

'अवधी' बोली में सीता स्त्रीलिंग के साथ 'बोला' क्रिया रूप असंगत है। किन्तु यदि खड़ी बोली का वाक्य मानकर सीता (ने) स्वीकार किया जाये तो च्युति संस्कृति दोष नहीं होगा।

अप्रयुक्त

आचार्य वामन इसे अप्रतीत के रूप में स्वीकार करते हैं। शास्त्र आदि में प्रयुक्त होने वाले वे शब्द जो लोक में न प्रचलित हों, अप्रयुक्त हैं—तुलसीदास कहते हैं—'सरिस स्वान मघवान जुवानू' यह पाणिनि के सूत्र का रूपांतरण है।

ग्राम्यत्व

आचार्य वामन ने इसे ग्राम्य दोष माना है उन्होंने इसे इस प्रकार परिभाषित किया है—

'लोकमात्रप्रयुक्तम् ग्राम्यम्'

केवल 'ग्राम्य' जनों द्वारा प्रयुक्त काव्य शब्दों का प्रयोग ग्राम्यत्व दोष है। यथा—

सत्य सराहि कछहु-बरू देना। जानहु लेइहि मांगि चबेना।

इसमें 'चबेना' शब्द में ग्राम्यत्व दोष है।

क्लिष्टत्व

कवि द्वारा काव्य में प्रयुक्त दुर्बोध एव अर्थ दुःसाध्य जटिल शब्दों को क्लिष्ट कहते है। जैसे—

कहहु सुप्रेम प्रगट को करई। केहि छाया कवि मति अनुसरई।

यहाँ शब्द ध्वनि सिद्धान्त मे प्रयुक्त 'कवि परम्परा' के अर्थ मे है, सामान्य 'छाया' के अर्थ मे नही।

न्यूनपदत्व

जहाँ काव्य के अन्तर्गत अर्थ सिद्धि के लिए एक या एकाधिक शब्द बाहर से जोडने की आवश्यकता पड़े वहाँ न्यूनपदत्व दोष है। जैसे—

नाना सरोवर खिले नव पंकजों को,
ले अक में बिहँसते मन मोहते थे।

यहाँ सरोवर के बाद 'मे' शब्द वाक्य मे न्यून है।

अधिकपदत्व

जहाँ छन्द की यति, गति एवं पाद की पूर्ति मे बाधक के रूप मे अधिक शब्द पड़ते है, उसे अधिक पदत्व दोष कहा जाता है। जैसे—

साक्षी है गिरि धवल हिमाचल,
गंगा यमुना का पावन जल।

'हिमाचल' शब्द हिम + 'अचल' अर्थात् पर्वतवाची स्वत. फिर गिरि' शब्द का प्रयोग अनुचित और अधिक है।

अक्रमत्व

लोक या शास्त्र में निर्धारित क्रम का काव्य के शब्द प्रयोग में व्यतिक्रम हो जाना ही अक्रमत्व दोष है। सामान्यतया व्याकरण के अन्वय विरोध से इसका सम्बन्ध होता है। जैसे—

क्यों नहीं करुणा तुम्हारी छलकती है मूक।

यहाँ 'मूक' शब्द करुणा का विशेषण है जो पद के अन्त में रखा हुआ है।

अश्लीलत्व

जुगुप्सा, नग्न श्रृंगार या कामुकता, अमंगल सूचक आदि शब्दों का स्पष्ट या अप्राकरणिक प्रयोग अश्लीलत्व दोष कहलाता है। यथा—

जेहि विषया संतन तजी, मूढ़ ताहि लपटात।
ज्यों नर डारत वमन करि, स्वान स्वाद सों खात।

इसमें जुगुप्सामूलक अश्लीलत्व व्यंजित है।

असमर्थ दोष

अभीष्ट अर्थ को प्रतीति कराने में प्रयुक्त असमर्थ शब्द प्रयोग को असमर्थ दोष के नाम से जाना जाता है। यथा—

आई नव उत्क्रान्ति, देश समृद्ध हुआ है।

यहाँ 'उत्क्रान्ति' शब्द का प्रयोग क्रान्ति के अर्थ में है किन्तु उसका अर्थ 'मृत्यु' है। 'क्रान्ति' अर्थ के लिए उत्क्रान्ति शब्द उचित नहीं है।

अर्थ दोष

'अर्थाश्रित होने पर दोष विशेष को अर्थ दोष कहा जाता है।' इनमें से कुछ प्रमुख अर्थ दोष इस प्रकार हैं—

पुनरुक्ति दोष

आचार्य केशवदास पुनरुक्ति को इस प्रकार परिभाषित करते हैं—

एक बार कहिये कछू, बहुरि जु कहिये सोइ।
अर्थ होय कै शब्द अब, सुनु पुनरुक्ति सुहोय।

एक ही अर्थ को शब्दान्तर से बार-बार कहना पुनरुक्ति दोष है। यथा—

मघवा घन आरूढ़, इन्द्र आजु अति सोहियो।
ब्रज पर कोप्यो मूढ़, मेघ दसौं दिसि देखियें।

इसमें मघवा तथा इन्द्र, मेघ तथा घन की पुनरुक्ति है।

दुष्क्रमत्व दोष

आचार्य भामह इसे अपक्रम नाम देते हैं। उन्होंने इसे इस प्रकार परिभाषित किया है—

यथोपदेशं क्रमशो निर्देशोऽत्र क्रमो मतः ।
तदपेतं विपर्यासादित्युक्तमपक्रमम् ।

उपदेश के अनुसार क्रमशः निर्देश को क्रम कहते हैं। उपदेश का अर्थ है वस्तुओं का प्रथम विन्यास। उसमें व्यतिक्रम कर देना ही दुष्क्रमत्व है। गोस्वामी तुलसीदास का विवेचन करते हुए आचार्य पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने इसका उदाहरण कवितावली से इस प्रकार दिया है -

'मारुत नन्दन मारुत को मन को खगराज को वेग लजायो।

शुक्ल जी के अनुसार मन, मारुत और खगराज का क्रम रखना चाहिए था।

प्रसिद्धि विरुद्ध

लोक प्रसिद्धि या कवि प्रसिद्धियों के प्रतिकूल वर्णन को प्रसिद्धि विरुद्ध दोष कहा गया है। जैसे—

मरु सुदेस मोहन महा, देखहु सकल सुभाग ।
अमल कमल कुल ललित जहँ, पूरन सलिल तड़ाग ।

मरु प्रदेश में निर्मल कमल समूह एवं सलिलपूर्ण तालाब का वर्णन प्रसिद्धि के प्रतिकूल है।

अपार्थ

जिस काव्य वाक्य का अर्थ स्पष्ट न हो, उसे अपार्थ दोष कहा जाता है। जैसे—

सूरदास भगवंत भजन बिनु चले जात भइ पोइस ।

यहाँ 'भइ पोइस' शब्द की अर्थ संगति नितान्त अस्पष्ट है।

आचार्य केशवदास ने इसको स्पष्ट करते हुए बताया है, जहाँ मुख्य अर्थ न निकले वहाँ अपार्थ दोष है। इसको स्पष्ट करते हुए बताया है —

पिये लेत नर सिंधु कहँ है अति सुंदर देह ।
ऐरावत हरि भावतो देख्यो गरजत मेह ।

रस दोष

यद्यपि शब्द एवं अर्थ दोष प्रकारान्तर भाव रस प्रतीति के बाधक ही हैं फिर भी, आचार्यों ने भिन्न रूप से इसका विवेचन किया है। संक्षेप में, प्रमुख र दोषों की स्थिति इस प्रकार है—

स्वशब्दवाच्यत्व

रस ध्वनि का विषय होने के कारण व्यंग्य होता है, वाच्य नहीं। अतः र निरुपण करते समय उसका एवं उसके अनुभवों का शब्दों में उल्लेख कर देन स्वशब्दवाच्यत्व दोष है। जैसे—

फरकत रद भौंहे सतर, बंकिम लोहित नैन
वीर भाव की भंगिया, घन इव घहरत बैन।

उत्साह का प्राधान्य है किन्तु 'वीर भाव' कह देने से स्वशब्द वाच्यत्व होगा

अकाण्ड प्रथन

रस विशेष के लिए उपयुक्त अवसर न होने पर भी उनको हठात् अभिव्य कराना अकांड प्रथन दोष है। यथा—

अस विचारि गुह जाति सन, कहेउ सजग सब होहु।
हथबांसहु बोरहु तरनि, कीजिय घाटारोहु।
चले निषाद जोहारि जोहारी। सूर सकल रन रूचइ रारी।
सुमिरि राम पद पकज पनहीं। भाँथी बाँधि चढ़ाइन्हि धनुही।

करुणा के अवसर पर वीर रस का यह अवतरण अकाण्ड प्रथन है।

अकांड छेदन दोष

रस के पूर्ण परिपाक के बिना उसे बीच मे ही भग कर देना रस का अका छेदन दोष माना जाता है। जैसे—

सुनु जानकी तोहि बिनु आजू। हरषे सकल पाइ जनु राजू।
किमि सहि जात अनख तोहि पाहीं। प्रिया बेगि प्रकटसि कस नाहीं।
एहि विधि खोजत विलपत स्वामी। मनहु महा बिरही अति कामी।
पूरन काम राम सुख रासी। मनुज चरित कर अज अविनासी।

'विप्रलम्भ शृंगार' को बीच मे खण्डित करके भक्ति भाव से सम्पि कराना अकाण्ड छेदन रस दोष है।

दोषों का समाहार

इन दोनों का वर्णन करते हुए आचार्यों ने कतिपय दोषों के परिहार की भी चर्चा की है। दोषों के परिहार की चर्चा सर्वप्रथम आचार्य भामह ने की। वे एकार्थ (पुनरुक्ति) दोष का परिहार करते हुए बताते है—

श्रमशोकाभ्यसूयासु-हर्ष विस्मयोरपि।
यथाह गच्छ गच्छेति पुनरुक्तं न तद्विदुः।

भय, शोक, डाह, हर्ष, विस्मय में पुनरुक्त दोष नहीं माना जाता। जैसे क्रोध मे कोई कहता—जाओ, जाओ आदि।

आचार्य दण्डी ने इस समस्या पर अधिक विस्तार से विचार किया है।

(1) दुःखादि से अभिभूत व्यक्ति के विवेक सूत्र मन मे विरुद्धार्थ का ध्यान नहीं रहता।

(2) काम-पीड़ा में सज्जन पुरुष द्वारा पर स्त्री की कामना।

(3) 'संशय दोष' में वाक्य यदि संशय उत्पादन के लिए किया जाए तो वह दोष न होकर अलंकार होगा।

इस प्रकार, परम्परा मे कतिपय दोषों के परिहार की चर्चा आगे चलकर आचार्य विश्वनाथ आदि ने भी की।



4

रीति सिद्धान्त : परिभाषा एवं स्वरूप

संस्कृत साहित्य मे रीति शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम आचार्य वामन ने किया था किन्तु उनके पूर्व यह सिद्धान्त वर्तमान था। आचार्य भरत ने रीति को प्रवृत्ति के नाम से पुकारा है। उनका वाक्य है—

अत्राह प्रवृत्तिरिति कस्मादिति। उच्यते, पृथिव्यां नानादेशवेष भाषाचार: वार्ता स्थापयति इति वृत्तिः। प्रवृत्तिः निवेशने।

यह सत्य है कि बाद मे रीति इसी प्रवृत्ति एवं वृत्ति के आधार पर रची गई, क्योंकि इसका सम्बन्ध देश, वेश से न होकर भाषाचार से है। आचार्य भरत ने प्रदेश, वेषाभिधान्य एवं भाषाचार के क्रम से सम्पूर्ण भारतीय परिवेश को चार भागों में विभक्त किया था—

(1) दाक्षिणात्य	(2) औड्री-मागधी	(3) पांचाली	(4) अवन्तिका
(महाराष्ट्र, विदर्भ प्रदेश)	(वंग, कलिंग, उड़ीसा, मिथिला, मगध)	(पांचाल, शूरसेन, कश्मीर, मद्र)	(अवन्ती, मालव सिन्धु, सौराष्ट्र)

इस प्रकार आचार्य भरत ने सम्पूर्ण भारत के रहन-सहन, भाषा एवं आचरण के आधार पर उनकी वृत्तियों एवं प्रवृत्तियो का निरूपण किया। आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र मे एक स्थान पर मार्ग शब्द का प्रयोग किया है—

एते मार्गस्तु निर्दिष्टा यथा भाव रसानि च।
काव्याबन्धास्तु निर्दिष्टा द्वादशाभिनयात्मकः ॥

आचार्य अभिनवगुप्त इस मार्ग के अन्तर्गत अलंकार, गुण, रीति, वृत्ति आदि सभी को रखते हैं किन्तु इसी निरूपण के साथ "रीति" की प्रादेशिक दृष्टि का सूत्रपात हुआ और परवर्ती आचार्यों ने इसे मार्ग का नाम देकर वृत्ति तथा प्रवृत्ति से इसे मुक्त किया। आचार्य दण्डी इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम संकेत करते हैं। वे कहते हैं—

अस्त्यनेको गिरामार्गः सूक्ष्मभेदप्रभेदतः।
तत्रवैदर्भ गौडीयो प्रस्फुटान्तरौ।।

यही नहीं, मार्ग के लिए पन्थ तथा वर्तमान शब्दों का प्रयोग भी वे पर्यायवाची शब्द के रूप मे ही करते हैं। आचार्य दण्डी इस मार्ग शब्द की प्रदेशाभिधानिता को खण्डित करने के लिए पुनः इसे बन्ध तथा पद्धति के नाम से पुकारते हैं।

प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर आचार्य दण्डी सर्वप्रथम गुण तथा मार्ग के बीच सम्बन्ध स्थापित करते हैं। इन्होंने मार्गों की संख्या बताई—

(1) गौड़ीया, (2) वैदर्भी, (3) पांचाली

वे "वर्ण सामंजस्य" और उससे उत्पन्न ध्वनि का भौतिक प्रभाव यथा ओज, प्रसाद तथा माधुर्यादि 10 गुण मार्ग के स्वरूप एवं प्रवृत्ति में अन्तर उत्पन्न करते हैं। आचार्य दण्डी के मार्ग सिद्धान्त का आधार गुण ही है। आचार्य भामह भी रीति के लिए "मार्ग" शब्द का उल्लेख करते है। उन्होने रस सिद्धान्त की विशेष चर्चा नही की है।

रीति का सबसे अधिक विस्तार आचार्य वामन के द्वारा किया गया। रीति को उन्होंने दो तरह से परिभाषित किया। प्रथम व्युत्पत्ति मूलक परिभाषा एवं द्वितीय भावमूलक। उनकी व्युत्पत्तिमूलक परिभाषा इस प्रकार है—

(1) रीयते क्षरति वाङ्मधुधरोति इति रीतिः।
(2) रीणन्ति गच्छन्ति गुणाः अस्यां इति रीतिः।

अर्थात् (1) रीति शब्द रीङ् शब्द रीङ् धातु से निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ गमन या क्षरण (वर्षा) है। जिसके प्रवेश करा देने पर वाणी मधुधारा की वर्षा करने लगती है वह तथा (2) जिसमें काव्य के सर्वस्वरूप गुण स्वत. प्रवेश कर जाते हैं, वह रीति है। उन्होने इसकी भावात्मक परिभाषा इस प्रकार दी है— "विशिष्टपद रचना रीतिः।" अर्थात् विशेषवती (गुणवती) पद रचना का नाम रीति है।

आचार्य वामन ने "रीति" शब्द को मार्ग से मुक्त करके उसे एक नया नामकरण दिया तथा प्रादेशिकता से भी मुक्त किया। यही नहीं, उनका सबसे बड़ा योगदान यह भी है कि उन्होने रीति को काव्यात्मा के नाम से पुकारा।

परवर्ती आचार्यों ने रीति के महत्त्व को नकारते हुए उसे काव्यात्मा के स्थान पर रचना का नितान्त गौड़ धर्म निरूपित किया। आचार्य रुद्रट ने रीति को "रस एवं समास युक्त पद रचना" के नाम से अभिहित किया। आचार्य आनन्दवर्धन रीति का अर्थ पद संघटना से ग्रहण करते हैं। वे "रीति" को गुण से युक्त करके इसे

मात्र शैली के धर्म के रूप में निरूपित करते हैं। आनन्दवर्धन इस रीति को परिभाषित करते हुए कहते हैं—

गुणानां आश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा।

रीति संघटना है और गुणों की आश्रित होकर यह अन्ततया रस को ही व्यक्त बनाती है। इस प्रकार रस के सन्दर्भ मे रीति का अस्तित्व प्रत्यक्षतः न होकर परोक्षतः है। आचार्य आनन्दवर्धन इसे पुनः परिभाषित करते हुए कहते है कि रीति मूलतः पद संघटना का ही अर्थ है और इस रूप मे पुनः परिभाषित करते हुए बताते है— "पदसंघटनाधर्मा रीतिः" आचार्य राजशेखर रीति को परिभाषित करते हुए उसे "वाणी विन्यास का वैशिष्ट्य" मात्र मानते हैं—

"वचनविन्यास क्रमो रीतिः"

आचार्य कुन्तक रीति को मार्ग के नाम से पुकारते हैं। वे इस मार्ग को कवि स्वभाव का अंग मानते है। उनके अनुसार रीति की परिभाषा इस प्रकार है— "कवि स्वाभावभेदत्वात् रीतिः।"

आचार्य भोज रीति शब्द का अर्थ "कविप्रणाली" में ग्रहण करते हैं। उनके अनुसार रीति की परिभाषा इस प्रकार है—

वैदर्भादिकृतः पन्थाः काव्ये मार्ग इतिस्मृतः।
रीङ्गतौ इतिधातोरसा व्युत्पत्त्या रीतिरुच्यते॥

आचार्य शिङ्भूपाल के अनुसार रीति काव्य वाक्यविन्यास की भंगिमा है—

पदविन्यासभङ्गीरीतिः"

रीति की इन परिभाषाओं से रीति के स्वरूप पर इस प्रकार प्रकाश डाला जा सकता है—

(1) प्रारम्भिक आचार्यों के अनुसार यह एक प्रादेशिक शैली मात्र थी और विविध प्रदेशों के आचार-विचार व्यवहार तथा भाषा के समन्वय से इसके स्वरूप का निर्धारण होता है।

(2) द्वितीय स्तर पर आचार्य भामह तथा वामन ने काव्य गुणों से सम्बद्ध करके इसमें निहित प्रादेशिक शैली संदर्भ को समाप्त किया और इसे विशिष्ट रचना सिद्धांत के रूप मे स्वीकृति दी गई।

(3) तीसरे स्तर पर आचार्य वामन रीति शब्द को अभिधान करते हुए सम्पूर्ण काव्य वाक्य की आत्मा के रूप में स्थापित किया। उनके अनुसार रीति वह धर्म है, जिसमे गुण तत्त्व स्वतः समाविष्ट हो जाते हैं। गुणों के समावेश के कारण रीति काव्य के समस्त तत्त्वों को स्वतः समाविष्ट करा लेती है। इस प्रकार काव्य के मौलिक स्वरूप की पहचान रीति के ही माध्यम से सम्भव है।

(4) इस स्तर पर ध्वनिवादी आचार्यों ने रीति को शैली के रूप में ग्रहण करके संघटना के नाम से पुकारा। सघटना का अर्थ शैली ही है। इसके मूल मे उन्होने समास की स्थिति स्वीकार की और यह भी तय किया कि रीति के अन्तर्गत निहित रचनाधर्मिता का मूलाधार काव्यगुण तत्त्व है।

(5) परवर्ती आचार्यों ने इसे रचना की प्रणाली के नाम से स्वीकृति दी और उनके अनुसार कवि एवं काव्य परम्परा रीति का नियामक तत्त्व है।

इस प्रकार रीति के स्वरूप विवेचन में वैचारिक वैमत्य देखा जाता है।

रीति के भेद

रीति के कितने भेद हैं, यह एक विवादास्पद प्रश्न है किन्तु इस तथ्य पर आम सहमति है कि गौडीया, वैदर्भी, एव पांचाली इसके ये तीन भेद निर्विवादित है। आचार्य रुद्रट ने रीति विवेचन में चौथी रीति को "लाटीय" रीति के नाम से पुकारा। आचार्य भोज ने छः रीतियो को मान्यता दी है—वैदर्भी, गौडीया, पांचाली, लाटीया, आवन्ती और मागधी। प्रमुख रीतियो का स्वरूप विवेचन इस प्रकार है—

(1) **वैदर्भी रीति**—सामान्यतः इसका नामकरण "विदर्भ" महाराष्ट्र के आचार-व्यवहार-भाषा-शैली के अनुक्रम पर हुआ किन्तु परवर्ती आचार्यों ने इसमे निहित प्रादेशिकता के तत्त्वो को समाप्त करके उसे सैद्धान्तिक आवरण दिया। सर्वप्रथम आचार्य भामह वैदर्भ-मार्ग की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए कहते है—

"अर्थ गाम्भीर्य तथा वक्रोक्ति से रहित स्पष्ट, सरल, कोमल तथा स्वाभावोक्ति से परिपूर्ण संगीत के समान श्रुतमधुर रचना विन्यास वैदर्भ मार्ग है।"

आचार्य दण्डी ने बताया है कि श्लेष, प्रसाद, समता आदि दस गुणो से युक्त रचना परिपाटी वैदर्भ मार्ग है।

आचार्य वामन वैदर्भी रीति को काव्य का प्रवण मानते हैं। इस सम्बन्ध मे उनका वाक्य इस प्रकार है—

सति वक्तरि सत्यर्थेसति शब्दानुशासने।
अस्ति तन्नविना येन परिस्रवति वाङ्मधुः॥

इसमे वीणा के मधुर स्वरो की भाँति भयंकर होता है और काव्य के समस्त 10 गुण इस वैदर्भी रीति मे आश्रय प्राप्त करते है।

परवर्ती आचार्यों ने समास रहित पद रचना को वैदर्भी रीति के नाम से पुकारा। इसके समस्त लक्षणो की ओर आचार्य राजशेखर ने इंगित किया है। उनके अनुसार वैदर्भी रीति-रूढ, असमासयुक्त अनुप्रासविहीन अभिधा से परिपूर्ण रसात्मक स्वभाव की पदशैली है। इसी प्रकार के इसके लक्षण आचार्य भोज द्वारा भी स्वीकार किए गये हैं इसका गदाहरण इस प्रकार है

कंकन किंकिन नूपुर धुनि सुनि । कहत लखन सन राम हृदय गुनि ।
मानहु मदन दुन्दभी दीन्ही । मनसा विस्व विजय कहँ कीन्ही ।
अस कहि फिरि चितये तिहि ओरा । सियमुख ससि भये नयन चकोरा ।।

(2) **गौडीया**—गौडीया रीति या मार्ग का सम्बन्ध गौड़ प्रदेश (बंगाल) से निर्दिष्ट किया गया है किन्तु काव्यबन्ध के रूप मे गौडीया ठीक वैदर्भी के प्रतिकूल है । सामान्य रूप से जटिल पदबन्ध की योजना से युक्त होने के कारण इसे स्पृहणीय नही माना गया है । गौड मार्ग में अक्षर की आडम्बरता के कारण उसे सम्मान नही मिला है । आचार्य भामह ने बताया है कि गौडीय काव्य मे अलंकारो का हितकाव्य प्रयोग, ग्राम्यरहितता, न्यायसंगत तथा अनाकुल (जटिलता रहित) पद योजनाएँ हों तो ग्राह्य हो सकती हैं । आचार्य दण्डी ने बताया है कि इस काव्य पद्धति मे अनुप्रासों का बाहुल्य, अप्रसिद्ध व्युत्पत्तियुक्त शब्द, अतिशयोक्ति से परिपूर्ण आदि लक्षणो से युक्त होती है । आचार्य वामन ने बताया है कि गौडीया रीति मे ओज एवं कान्ति नामक गुण होते हैं । आचार्य आनन्दवर्धन ने निर्दिष्ट किया है कि वह दीर्घ समास से युक्त काव्यरचना है । राजशेखर ने दीर्घ समास तथा अनुप्रास से अनुप्राणित रचना को गौडीया रीति के नाम से पुकारा है । आचार्य भोज के अनुसार अति दीर्घ समास से युक्त, परिस्फुट बन्ध संयुक्त योगरूढ़ शब्दावली से आकलित रचना गौडीया रीति है । गौडीया रीति का उदाहरण इस प्रकार है—

धरि कुधर खण्ड प्रचण्ड मर्कट भालु गढ़ पर धावहीं ।
झपटहि चरन गहि पटकि महि भजि चलत बहुरि पचारही ।
अति तरल तरुन प्रताप तरपहिं गढ़ चढ़ि चढ़ि गये ।
कपि भालु चढ़ि मंदिरन्ह जहँ तहँ राम जसु गावत भये ।।

पांचाली रीति—पांचाल शब्द "पंजाब के लिए प्रयुक्त हुआ है और इस प्रकार पाचाली रीति का सम्बन्ध प्रदेशाभिधान्यवाद सिद्धान्त के अनुसार उसी से सम्बद्ध है । पांचाली रीति का उल्लेख सर्वप्रथम आचार्य वामन ने किया था । उनके अनुसार पाचाली रीति में माधुर्य एवं सुकुमारता नामक गुणो का सन्निवेश होता है । आचार्य रुद्रट ने इसे स्वल्प समासयुक्त रचना के नाम से पुकारा है । आचार्य आनन्दवर्धन ने इसे मध्यम समास से युक्त बताया है । राजशेखर के अनुसार इषद् समास एवं इषद् अनुप्रास से युक्त रचना पांचाली रीति है । आचार्य भोज ने पांचाली रीति को स्पष्ट करते हुए बताया है कि यह अनतिदीर्घ समास से युक्त सरल शब्दावली निर्मित काव्यबन्ध है । इसका उदाहरण इस प्रकार है—

तेहिं बन निकट दशानन गयऊ । तब मारीच कपट मृग भयऊ ।।
अति विचित्र कछु बरनि न जाई । कनक देह मनि रचित बनाई ।।

सीता परम रुचिर मृग देखा। अंग अंग सुमनोहर वेषा ॥
सुनहु देव रघुबीर कृपाला। एहि मृग कर अति सुन्दर छाला ॥

रीति का महत्त्व

आचार्य वामन ने रीति को काव्यात्मा माना है। उनके अनुसार समस्त काव्यगुण, समस्त रसव्यापार एवं अतिशयताधर्म के माध्यम से समस्त अलंकार रीति में प्रवेश करके उसकी समृद्धि तथा शोभा बढ़ाते है। काव्यात्मा का यहाँ अर्थ यही है कि वह समस्त सिद्धांतो मे सबसे महत्त्वपूर्ण है क्योकि वह सभी को अङ्गरूप मे धारण करता है। उनका प्रसिद्ध वाक्य है—

"एतासु तृषु रीतिषु रेखास्विव चित्रं काव्यं प्रतिष्ठितमिति"।

जिस प्रकार रेखाओं के बीच चित्र प्रतिष्ठित रहता है, उसी प्रकार तीनों रीतियो के अन्तर्गत् सम्पूर्ण काव्य प्रतिष्ठित है।

आचार्य वामन के इस दृष्टिकोण को परवर्ती आचार्यों ने यद्यपि नही स्वीकार किया है और रीति को काव्यशैली या काव्यपद्धति तक ही सीमित रखा है। साथ ही, इन आचार्यों ने यह भी बताया है कि गुण के अभाव में रीति का अपना कोई अस्तित्व नही है। कुल मिलाकर परवर्ती आचार्यों ने इसके महत्त्व को नकारा है।

रीति का मुख्य प्रश्न काव्यभाषा तथा रचनाशैली से है। कविता की भाषा और उसकी रचना शैली मूलत काव्य के अस्तित्व का आधार है और वह स्थूल होते हुए भी अनिवार्य है। वही काव्य के अस्तित्व का परिचायक और प्रतिष्ठाता है। आज के युग में आचार्य वामन के इस सिद्धान्त का इतना महत्त्व है कि काव्य शरीर का निर्माण मूलतः काव्यभाषा तथा रचना शैली से ही सम्भव है और इस काव्य-शरीर की चर्चा करने पर इसकी अनिवार्यता अपरिहार्य सिद्ध हो जाती है।

रीति का शेष सिद्धान्तों से सम्बन्ध—काव्य रचना में रीति एवं गुण का अपरिहार्य सम्बन्ध है और इसकी चर्चा गुण विवेचन के सन्दर्भ मे की जा चुकी है। यहाँ केवल रस तथा रीति के सम्बन्ध की चर्चा मात्र अभीष्ट है।

रीति तथा रस—रीति तथा रस के सम्बन्ध मे सर्वप्रथम विवेचन आचार्य वामन ने किया है। उनके अनुसार रीति का प्रवेश होते ही काव्य वाणी मधुधारा का वर्षण करने लगती है। उन्होने कान्ति नामक गुण तथा काव्यपाक् के माध्यम से रीति मे रस के अन्तर्भाव की चर्चा की है। काव्य पाक के अन्तर्गत गुण सम्पूर्णत परिपक्व होकर रचना को आस्वाद्य बना देता है और यह आस्वाद्यता ही रस है। यही नही, कान्ति नामक गुण मे शृंगारादि रसों से दीप्त होता है और दीप्त होकर

कंकन किंकिन नूपुर धुनि सुनि। कहत लखन सन राम हृदय गुनि।
मानहु मदन दुंदभी दीन्ही। मनसा विस्व विजय कहँ कीन्ही।
अस कहि फिरि चितये तिहि ओरा। सियमुख ससि भये नयन चकोरा।।

(2) गौडीया—गौडीया रीति या मार्ग का सम्बन्ध गौड़ प्रदेश (बंगाल) से निर्दिष्ट किया गया है किन्तु काव्यबन्ध के रूप में गौडीया ठीक वैदर्भी के प्रतिकूल है। सामान्य रूप से जटिल पदबन्ध की योजना से युक्त होने के कारण इसे स्पृहणीय नहीं माना गया है। गौड मार्ग में अक्षर की आडम्बरता के कारण उसे सम्मान नहीं मिला है। आचार्य भामह ने बताया है कि गौडीय काव्य में अलंकारों का हितकाव्य प्रयोग, ग्राम्यरहितता, न्यायसंगत तथा अनाकुल (जटिलता रहित) पद योजनाएँ हों तो ग्राह्य हो सकती हैं। आचार्य दण्डी ने बताया है कि इस काव्य पद्धति में अनुप्रासों का बाहुल्य, अप्रसिद्ध व्युत्पत्तियुक्त शब्द, अतिशयोक्ति से परिपूर्ण आदि लक्षणों से युक्त होती है। आचार्य वामन ने बताया है कि गौडीया रीति में ओज एवं कान्ति नामक गुण होते हैं। आचार्य आनन्दवर्धन ने निर्दिष्ट किया है कि वह दीर्घ समास से युक्त काव्यरचना है। राजशेखर ने दीर्घ समास तथा अनुप्रास से अनुप्राणित रचना को गौडीया रीति के नाम से पुकारा है। आचार्य भोज के अनुसार अति दीर्घ समास से युक्त, परिस्फुट बन्ध संयुक्त यौगरूढ़ शब्दावली से आकलित रचना गौडीया रीति है। गौडीया रीति का उदाहरण इस प्रकार है—

धरि कुधर खण्ड प्रचण्ड मर्कट भालु गढ़ पर धावहीं।
झपटहि चरन गहि पटकि महि भजि चलत बहुरि पचारहीं।
अति तरल तरुन प्रताप तरपहिं गढ़ चढ़ि चढ़ि गये।
कपि भालु चढ़ि मंदिरन्ह जहँ तहँ राम जसु गावत भये।।

पांचाली रीति—पांचाल शब्द "पंजाब के लिए प्रयुक्त हुआ है और इस प्रकार पांचाली रीति का सम्बन्ध प्रदेशाभिधान्यवाद सिद्धान्त के अनुसार उसी से सम्बद्ध है। पांचाली रीति का उल्लेख सर्वप्रथम आचार्य वामन ने किया था। उनके अनुसार पांचाली रीति में माधुर्य एवं सुकुमारता नामक गुणों का सन्निवेश होता है। आचार्य रुद्रट ने इसे स्वल्प समासयुक्त रचना के नाम से पुकारा है। आचार्य आनन्दवर्धन ने इसे मध्यम समास से युक्त बताया है। राजशेखर के अनुसार इषद् समास एवं इषद् अनुप्रास से युक्त रचना पांचाली रीति है। आचार्य भोज ने पांचाली रीति को स्पष्ट करते हुए बताया है कि यह अनतिदीर्घ समास से युक्त सरल शब्दावली निर्मित काव्यबन्ध है। इसका उदाहरण इस प्रकार है—

तेहिं बन निकट दशानन गयऊ। तब मारीच कपट मृग भयऊ।।
अति विचित्र कछु बरनि न जाई। कनक देह मनि रचित बनाई।।

सीता परम रुचिर मृग देखा। अंग अंग सुमनोहर वेषा ।।
सुनहु देव रघुबीर कृपाला। एहि मृग कर अति सुन्दर छाला ।।

रीति का महत्त्व

आचार्य वामन ने रीति को काव्यात्मा माना है। उनके अनुसार समस्त काव्यगुण, समस्त रसव्यापार एवं अतिशयताधर्म के माध्यम से समस्त अलंकार रीति में प्रवेश करके उसकी समृद्धि तथा शोभा बढाते हैं। काव्यात्मा का यहाँ अर्थ यही है कि वह समस्त सिद्धांतो मे सबसे महत्त्वपूर्ण है क्योकि वह सभी को अङ्गरूप मे धारण करता है। उनका प्रसिद्ध वाक्य है—

"एतासु तृषु रीतिषु रेखास्विव चित्रं काव्यं प्रतिष्ठितमिति"।

जिस प्रकार रेखाओ के बीच चित्र प्रतिष्ठित रहता है, उसी प्रकार तीनो रीतियो के अन्तर्गत् सम्पूर्ण काव्य प्रतिष्ठित है।

आचार्य वामन के इस दृष्टिकोण को परवर्ती आचार्यों ने यद्यपि नही स्वीकार किया है और रीति को काव्यशैली या काव्यपद्धति तक ही सीमित रखा है। साथ ही, इन आचार्यों ने यह भी बताया है कि गुण के अभाव में रीति का अपना कोई अस्तित्व नही है। कुल मिलाकर परवर्ती आचार्यों ने इसके महत्त्व को नकारा है।

रीति का मुख्य प्रश्न काव्यभाषा तथा रचनाशैली से है। कविता की भाषा और उसकी रचना शैली मूलत. काव्य के अस्तित्व का आधार है और वह स्थूल होते हुए भी अनिवार्य है। वही काव्य के अस्तित्व का परिचायक और प्रतिष्ठाता है। आज के युग में आचार्य वामन के इस सिद्धान्त का इतना महत्त्व है कि काव्य शरीर का निर्माण मूलतः काव्यभाषा तथा रचना शैली से ही सम्भव है और इस काव्य-शरीर की चर्चा करने पर इसकी अनिवार्यता अपरिहार्य सिद्ध हो जाती है।

रीति का शेष सिद्धान्तो से सम्बन्ध—काव्य रचना में रीति एवं गुण का अपरिहार्य सम्बन्ध है और इसकी चर्चा गुण विवेचन के सन्दर्भ में की जा चुकी है। यहाँ केवल रस तथा रीति के सम्बन्ध की चर्चा मात्र अभीष्ट है।

रीति तथा रस—रीति तथा रस के सम्बन्ध मे सर्वप्रथम विवेचन आचार्य वामन ने किया है। उनके अनुसार रीति का प्रवेश होते ही काव्य वाणी मधुधारा का वर्षण करने लगती है। उन्होंने कान्ति नामक गुण तथा काव्यपाक् के माध्यम से रीति मे रस के अन्तर्भाव की चर्चा की है। काव्य पाक के अन्तर्गत गुण सम्पूर्णत परिपक्व होकर रचना को आस्वाद्य बना देता है और यह आस्वादुता ही रस है। यही नहीं, कान्ति नामक गुण मे शृंगारादि रसों से दीप्त होता है और दीप्त होकर

रीति में रस का प्रवेश कराता है। आचार्य रूद्रट रीति तथा रस के बीच स्पष्ट सम्बन्ध स्थापित करते है—

वैदर्भी पांचाल्यो प्रेयसि करुणे भयानकाद्भुतयोः ।
लाटीया गौडीयो रौद्रे कुर्यादथौचित्यम् ॥

ध्वनिवादी आचार्यों ने रीति एवं रस के सम्बन्ध के विषय में पुनर्विचार करते हुए बताया है कि रीति रचना का संघटनाश्रित धर्म है। यही नहीं वह प्रत्यक्षत: रस से भी सम्बद्ध नही है। वह गुणो का आश्रय लेकर उन्ही के माध्यम से रस का संस्पर्श करती है अन्यथा उसमे स्वत: इतनी शक्ति नहीं है कि रस से सम्बन्ध स्थापित कर सके। यह गुणो की स्थिति रस की अंगभूतता की है तो रीति उस अंगभूत धर्म गुण का भी अगभूत धर्म है।

प्रत्यक्षत: रीति वाक्य रचना एवं भाषा धर्म होने के कारण रस को उत्पन्न करने का वातावरण पैदा करती है। रस एवं रीति के बीच मात्र इतना ही सम्बन्ध है।

5
अलंकार सिद्धान्त

परिभाषा, स्वरूप तथा वर्गीकरण

अलंकार शब्द की व्युत्पत्ति अलम्+कृ+घञ् प्रत्यय के योग से हुई है, जिसका अर्थ अलंकृत करना या जिसके द्वारा अलंकृत किया जाए है। अलंकार शब्द की व्युत्पत्तिमूलक तीन परिभाषाएँ हैं —

(1) अलंकरोति इति अलंकार

(2) अलंक्रियते अनेन इति अलंकारः

(3) अलंकृतिः अलंकारः

अलंकरोति इति अलंकारः के अन्तर्गत काव्य में समस्त सौन्दर्य विधायक तत्वों को अलंकार की संज्ञा दी गई है। आचार्य दण्डी तथा वामन ने इस प्रकार की परिभाषाओं की ओर ध्यान आकर्षित किया है। आचार्य दण्डी की परिभाषा इसी वर्ग की है—

"काव्यशोभा करान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते"

अर्थात्, काव्य के शोभा विधायक धर्म का नाम अलंकार है। इसमें शोभा विधायक धर्म के अन्तर्गत गुण, रीति, नाट्य सन्धियाँ वृत्तियाँ आदि सभी आ जाती हैं, अतः अलंकार की यह परिभाषा एक व्यापक सन्दर्भ में दी गई प्रतीत होती है। इसी प्रकार आचार्य वामन कहते हैं—"सौन्दर्यम् अलंकारः" अर्थात् सौन्दर्य ही अलंकार है। समग्र रचनात्मक सौन्दर्य को अलंकार मान लेने पर इस परिभाषा की भी वही ध्वनि निकलेगी, जो पूर्व निर्दिष्ट है।

आलंकारिको का प्रमुख वर्ग इस परिभाषा को अस्वीकार करके उसके तृतीय विभक्ति से सिद्ध यानि--"अलंक्रियते अनेन इति अलंकारः" को स्वीकार करता है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार अलंकार काव्य रचना के अन्तर्गत अलंकृत करने एक का माध्यम है और उससे वस्तुविषय (अलकार्य) अलंकृत होता है। इस व्युत्पत्ति के अन्तर्गत तीसरी

व्युत्पत्ति अर्थात्—"अलंकृतिः अलकार" समाहित है। अलकार के अन्तर्गत अलंकार्य एक प्रमुख प्रश्न है और अलंकार्य का अर्थ है—अलंकार का वस्तु विषय अर्थात् प्रस्तुत पक्ष। इसीलिए अलकार जिसका दूसरा पर्याय अलंकृति है, उसे अप्रस्तुत भी कहा जाता है। यहाँ इस अप्रस्तुत का कार्य है, प्रस्तुत (अलंकार्य) का अतिशयित (उत्कर्ष-पूर्ण) वर्णन करना। इस वर्ग के अन्तर्गत अलकार की परिभाषा इस प्रकार है—

"वाचाय वक्रार्थ शब्दोक्ति. अलंकाराय कल्पते।"

आचार्य भामह—वक्र अर्थ से युक्त शब्दोक्ति वाणी में अलकार का निबन्धन करती है। यहाँ वक्र अर्थ माध्यम है, और इसके द्वारा वाणी उत्कर्ष प्राप्त करती है। इस प्रकार वक्रता एक माध्यम है और वाणी का उत्कर्ष साध्य।

आचार्य रूद्रट—"अभिधान प्रकार विशेषा एव चालंकारा." अर्थात् कथन की विशेष भंगिमा ही अलंकार है। कथन की भंगिमा का अर्थ है, साधारण कथन नही वरन् किसी प्रकार की बकिमायुक्त कथन। वंकिमायुक्त कथन अर्थ है—लाक्षणिक वाक्य जो चमत्कृति का सृजन करता है। बकिमा एवं व.ता मे सामान्यतया कोई अन्तर नही है, वैसे विशेष प्रकार का कथन सामान्य व्यवहार कथन से भिन्न होकर अन्ततया वक्रतागर्भित ही हो जाता है।

आचार्य वामन—आचार्य वामन अलंकार को इस प्रकार परिभाषित करते हैं—"तद् (गुण) अतिशयहेतवस्तेऽलकारा." अर्थात् काव्यगुण को उत्कर्षवान बनाने के लिए प्रयुक्त कवि कथन ही अलंकार है। आचार्य वामन पूर्ववर्ती आचार्यों से इस परिभाषा के माध्यम से भिन्न कर लेते हैं। अलकार काव्य भाषा गुण को उत्कर्षवान बनाते है या नही, यह एक विवादास्पद प्रश्न है, क्योंकि काव्यगुण पूर्णतः अलंकार्य नही है, अलंकार तो वस्तु विषय (प्रस्तुत) है। अलंकार्य भाषा का भौतिक गुण नहीं है, यह रचना में अभिप्राय व्यंजना से प्रत्यक्षतः जुडता है जबकि काव्यगुण भाषा का भौतिक धर्म है। गुण के सन्दर्भ मे शब्दालंकार तक अलंकार सीमित है किन्तु इस वर्ग के आलंकारिक शब्दालकार को प्रायः अलंकार की विशुद्ध कोटि में नही रखते।

आचार्य कुन्तक—ये वक्रोक्तिवादी आचार्य रचना मे चमत्कृति तथा चारूत्व के विशेष समथक थे। इन्होने अलकार को इस प्रकार परिभाषित किया है—

"कविप्रतिभोत्थित विच्छित्ति विशेषः अलंकारः"

यहाँ "विच्छत्ति" शब्द का अर्थ चमत्कृति ही है। परवर्ती आचार्यों में महिमभट्ट, राजानक रुय्यक एवं राजानक तिलक आदि ने इस मत का समर्थन किया—

महिमभट्ट—चारूत्वं हि वैचित्र्य पर्याय प्रकाशमानं अलंकारः।

राजानक तिलक—वैचित्र्यमलकारः अभिधीयतेति-कविप्रतिभा संरम्भगोच-रार्थोऽलंकार्यो तद्धर्मश्चालंकारः।

अलंकारवादियो से भिन्न ध्वनि एवं रसवादियो द्वारा अलंकार को समझने तथा समझाने का कार्य अपने ढंग से किया गया। अलंकार की मूलस्थिति तथा औचित्य का प्रश्न सबसे प्रथम बार आनन्दवर्धन ने उठाया। उनके अनुसार अलंकार रचना के मुख्यधर्म न होकर गौण धर्म है ओर उनके प्रयोग का मुख्य औचित्य रस को दीप्त करना है। अलंकार न केवल वस्तु के रूप-गुण-क्रिया को उत्कर्ष प्रदान करते है अपितु उनका मूल धर्म है—रस को प्रकाशित करना। इस सापेक्ष्य मे आनन्दवर्धन ने अलकार को इस प्रकार परिभाषित किया है—

तत् (रस) प्रकाशिनो वाच्यविशेषा एव रूपकादयोऽलंकारा:"

इनके अनुसार अलंकार रचना मे वाच्य विशेष के धर्म है, धर्मादि रूप काव्य के प्रमुख तत्त्व के रूप मे न होकर उस व्यंग्य रूप रस के प्रकाशक शब्दार्थ धर्म है। ध्वनिवादियो ने अलंकार के बढे हुए महत्त्व को एकदम स्तम्भित करके उसे अपने अकाट्य तर्कों द्वारा रचना का आरोपित धर्म माना और उसे गुणादि से भी निम्न-कोटि का सिद्ध किया। आचार्य मम्मट तथा विश्वनाथ की परिभाषाएँ इस रूप मे देखने योग्य है। मम्मट—

उपकुर्वन्ति तंसन्तं अंगद्वारेण जातुचित्।
हारादिवत् अलंकारा तेऽनुप्रासोपमादय ॥

कविराज विश्वनाथ—

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्मा. शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गददिवत् ॥

ध्वनिवादियो ने मानव शरीर पर धारण किए जाने वाले अलकारों से उपमित करके इन्हे मात्र आपेक्ष्य मात्र बताया।

मूलत: अलंकार विवेचन की दो दृष्टियाँ हैं। एक का सम्बन्ध वाणी व्यापार की वक्रता से है और दूसरे का सम्बन्ध उसे रसोदीप्ति के साधनभूत के रूप मे स्वीकृति प्रदान करने से है। मूलत. दोनों दृष्टिकोणों मे कोई सैद्धान्तिक अन्तर नही है। प्रथम अलंकार का विवेचन उसके रचनापक्ष से देखकर उसके अर्थगत प्रभाव का आकलन करता है, दूसरा पक्ष ध्वनिवादियों का है जो अलकार का विवेचन उसके प्रभाव पक्ष से देखता है। रस का मूल कार्य औचित्य क्या है। रस की दृष्टि से देखी जाने वाली परिभाषाओ का सबसे बडा दोष यह है कि वे अलकार विधान की मूल रचनात्मक प्रक्रिया तथा उसके सम्पूर्ण भाषिक प्रभाव को उपेक्षित कर जाते हैं। अलंकार अर्थरचना का एक विशिष्ट माध्यम है और काव्यविधान के अन्तर्गत उसकी भाषिक प्रक्रिया का निषेध नही किया जा सकता क्योंकि अपने विशिष्ट तन्त्र द्वारा

वह विधान की रचना करता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अलंकार की अपनी परिभाषा में दोनो के समन्वित करने की चेष्टा की है।

भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण, क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने मे कभी-कभी सहायक होने वाली उक्ति ही अलंकार है।

मूलत: इस परिभाषा मे अलंकार को विधान के रूप मे स्वीकार करते हुए उसके भावात्मक प्रभावान्वित को व्यंजित करने की चेष्टा की गई है।

विधान की दृष्टि से अलंकार को इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है।

अलकार शब्दार्थ रचना का वह कलात्मक विधान है जो अर्थ को उत्कर्ष प्रदान करता हुआ पाठक मे चमत्कृति, विमुग्धता, रंजन आदि को व्यक्त करता है। शब्दार्थ के विशिष्ट कलात्मक विधान का अर्थ है—सादृश्य, आरोप, साम्य, वैषम्य आदि को कलात्मक सम्प्रेषण के उपादान के रूप में स्वीकृति देना।

अलंकार के तत्त्व

अलंकार के मूल में कौन से तत्त्व सन्निविष्ट रहते हैं यह एक विचारणीय प्रश्न है। भारतीय काव्यशास्त्र के अन्तर्गत प्रारम्भ से आलंकारिकों ने इस समस्या पर विचार किया है। इन आचार्यों ने निम्नलिखित तत्वों को इसकी रचना का कारण माना है—

(1) आचार्य दण्डी — स्वभावोक्ति
(2) आचार्य भामह — वक्रोक्ति
(3) आचार्य वामन तथा रुय्यक — सादृश्य
(4) आचार्य उद्भट — अतिशयता
(5) आचार्य अभिनवगुप्त — गुणभूतव्यंग्य

(1) **स्वभावोक्ति**—आचार्य दण्डी मानते हैं कि स्वभावोक्ति ही सम्पूर्ण अलंकारो मे निहित सारभूत तत्त्व है और उसके अभाव में अलंकारत्व सम्भव नही है। वे अपने तथ्य को प्रतिपादित करते हुए कहते हैं—

नानावस्थां पदार्थानां रूपं साक्षाद्विवृण्वती।
स्वभावोक्तिश्चजातिश्चेति आद्या सालंकृतिः यथा॥

प्रत्येक अलंकार मूलत: वस्तु के रूप गुण क्रिया आदि की स्वाभाविक तथा नैसर्गिक स्थिति का वाणी विधान द्वारा अहसास कराना चाहता है। उके द्वारा निरन्तर यह चेष्टा की जाती है कि वर्णन विधान वस्तु के नैसर्गिक स्वभाव तथा स्वरूप का अतिक्रमण न कर जाए। इस स्थिति मे स्वभावोक्ति अपनी सीमा में सम्पूर्ण अलंकारो का नियमन करता है।

(2) **वक्रोक्ति**—आचार्य भामह वक्रोक्ति को अलंकार का प्रमुख तत्त्व मानते है। उनके अनुसार केवल स्वभावोक्ति को अलकार का मूल तत्त्व मान लेने पर अलंकार एवं अलंकार्य का प्रश्न समाप्त हो जाएगा क्योंकि उस स्थिति मे रचना मे वस्तु तथा प्रतीयमान का भेद समाप्त हो उठेगा। अलंकृति तथा अलंकार्य दोनो एक रूप हो जायेगे और फिर अलंकार का वैशिष्ट्य निरूपित करने मे दिक्कत पडने लगेगी। उनके विचार से वक्रोक्ति ही सम्पूर्ण अलकारो का मूल तत्त्व है—

सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना।

वक्रोक्ति का अर्थ है, भंगिमापूर्ण या उत्कर्ष पूर्ण कथन और भंगिमापूर्ण कथन ही साधारण वाक्य से भिन्न काव्य-वाक्य का निर्माण करता है।

(3) **सादृश्य**—सस्कृत साहित्य में वामन, राजशेखर, अप्पय दीक्षित, राजानक रुय्यक आदि ऐसे आचार्य है जो सादृश्य विधान को ही अलंकार का प्रमुख तत्त्व मानते हैं। आचार्य वामन ने कहा है—"प्रतिवस्तूपमाप्रभृतिः उपमाप्रपंचः"

अर्थात् प्रतिवस्तूपमा इत्यादि जितने अन्य शेष अलंकार हैं, वे समस्त उपमा के ही भेद-विवरण का विस्तार है। आचार्य राजानक रुय्यक बताते है—

इत्थं स्वप्रकारवैचित्र्येण सादृश्यविच्छित्ति।
विशेषात्मना यतो नानालकार निदान भूता॥

इस प्रकार, सादृश्य विधान ही अपने वैचित्र्य भाव से सम्पूर्ण अलंकारो मे मूलतत्त्व बनकर अस्तित्त्ववान है। इसको स्पष्ट करते हुए राजानक रुय्यक इस प्रकार दृष्टान्त दिया है—

मुख सदृश कमल	—	उपमा
मुख रूपी कमल	—	रूपक
मुख मानों कमल	—	उत्प्रेक्षा
मुख है या चन्द्र	—	सन्देह
मुख देखकर चकोर तृप्त है	—	भ्रम, आदि-आदि।

इन दृष्टान्तो मे अन्ततया सादृश्य सहज रूप में है, कही अध्यवसित है, कहीं गम्य है, कही सन्देहास्पद तो कही भ्रममूलक है। इस प्रकार इस वर्ग के आलंकारिक सादृश्य विधान को ही अलंकार का प्रमुख तत्त्व मानते है।

अतिशयता—अतिशयता का अर्थ है, उत्कर्षपूर्ण कथन। यद्यपि इस तत्त्व की ओर आचार्य भामह तथा वामन दोनो ने इंगित किया था किन्तु उद्भट एवं उनके टीकाकार प्रतिहारेन्दुराज ने इस पर विशेष विस्तारपूर्वक चर्चा की है—

"अलंकाराणां गुणोपजनित काव्ये शोभातिशयविधायित्वात्"

अर्थात् अलंकार काव्य में गुणजनित शोभा में उत्कर्ष प्रदान करते हैं। मूलतः यह आचार्य वामन का मत है। जैसे व्यंजनादि में निक्त एवं अम्ल पदार्थों के द्वारा तीक्ष्णता एवं चटस्वादपन उत्पन्न किया जाता है वैसे गुण के सहज सौन्दर्य को अलकार अतिशयित करते हैं इस प्रकार गुणों में उत्कर्ष प्रदान कराना अलंकारों का मूल धर्म है और इस विधान के लिए अतिशयता एक प्रमुख तत्त्व।

गुणीभूतव्यंग्य—आचार्य अभिनवगुप्त गुणीभूतव्यंग्य को सम्पूर्ण अलंकारों का मूलभूत तत्त्व मानते हैं। उनके अनुसार यदि अतिशयोक्ति सम्पूर्ण अलकार तत्त्व मान लिया जाता है तो समस्त अलंकार संसृष्टि या संकर हो जायेंगे और अलंकारों की साधारणधर्मिता का निर्धारण करना कठिन हो जाएगा। मूलत सम्पूर्ण अलकारो का अस्तित्व बिना चारुता के स्पष्ट नहीं होता और चारुता गुणीभूतव्यंग्य का धर्म है, अतः गुणीभूत व्यंग्य ही सम्पूर्ण अलंकारो का नियामक तत्त्व है।

अलंकारों का वर्गीकरण

भारतीय काव्यशास्त्र मे अलंकारो का वर्गीकरण दो रूपों में किया गया है—प्रथम वर्गीकरण का आधार शब्दार्थमयता है, एवं दूसरे वर्गीकरण का आधार विविध अलंकारो मे निहित तत्त्वभूतता है। इस दृष्टि से प्रथम वर्गीकरण के अन्तर्गत शब्दालंकार, अर्थालंकार तथा आगे चलकर उभयालंकार को रखा गया। इस वर्गीकरण की ओर सर्वप्रथम आचार्य दण्डी ने ध्यान आकर्षित किया और उनके अनुसार शब्द तथा अर्थमूलक ये दो वर्ग सम्पूर्ण अलंकारों के बनते हैं। आचार्य भामह ने भी शब्दालंकार तथा अर्थालंकार जैसा वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। आचार्य वामन ने गुणो के सापेक्ष्य मे इन शब्दालंकारो तथा अर्थालंकारों को क्रमशः वाचक द्वारक एवं वाच्य द्वारक कहकर पुकारा। आचार्य भोज तथा अग्निपुराणकार ने शब्द तथा अर्थमूलक अलकारों के क्रम मे उभयालंकार भी माना। आगे चलकर अनेक परवर्ती आचार्यों ने इस वर्गीकरण को आधार बनाकर अलंकारो का विवेचन किया।

तत्त्वो के आधार पर अलंकारों को वर्गीकृत करने की एक भिन्न परम्परा मिलती है। इस वर्गीकरण को प्रारम्भ करने का श्रेय आचार्य उद्भट को दिया जाता है। यद्यपि उन्होने सम्पूर्ण अलंकारों को छः वर्गों में रखा है और उन वर्गों का कोई नाम नही दिया है, फिर भी, उनके वर्गीकरण में प्रवृत्ति के अनुक्रम मे वर्गीकरण की दृष्टि मिलती है। आचार्य रुद्रट ने अलकारों मे निहित प्रवृत्ति एवं वैशिष्ट्य साम्य के आधार पर उनका प्रामाणिक वर्गीकरण इस प्रकार रखा—

(1) वास्तव्य
(2) औपम्य

(3) अतिशय
(4) श्लेष।

उनके अनुसार समस्त अर्थालंकार इन्हीं चार वर्गों में रखे जा सकते हैं। आचार्य रुद्रट के पश्चात् आचार्य राजानक रुय्यक का वर्गीकरण इस दृष्टि से सबसे अधिक प्रामाणिक माना जाता है। उनके अनुसार सम्पूर्ण अलकारो को पाँच भागों में विभक्त किए जा सकते है—

(1) सादृश्यगर्भ
(2) विरोधगर्भ
(3) शृंखलाबद्ध
(4) न्यायमूल
(5) गूढार्थप्रतीतिमूल

सादृश्यगर्भ को उन्होने पुन. तीन भागों मे विभक्त किया है—(1) भेदाभेद तुल्यप्रधान (2) अभेद प्रधान, (3) भेद प्रधान। अभेद प्रधान के दो उपभेद हैं—(क) आरोप मूल, (ख) अध्यवसायमूल। न्यायमूलक अलंकारों को उन्होने तीन भागो मे विभक्त किया है—(क) काव्यन्याय, (ख) तर्कन्याय, (ग) लोकन्याय।

आचार्य रुय्यक के पश्चात् आचार्य विद्यानाथ ने अपने प्रसिद्ध अलंकार ग्रन्थ "प्रतापरुद्रयशो-भूषण शीर्षक ग्रन्थ में अलंकारो को चार भागों में विभक्त किया है—

(1) वस्तुप्रतीतिमूलक
(2) औपम्यप्रतीतिमूलक
(3) रसभावप्रतीतिमूलक
(4) अस्फुटप्रतीतिमूलक

आचार्य विद्याधर ने अलंकारों को 9 वर्गों मे विभक्त किया। ये इस प्रकार है—

(1) साधर्म्यमूल
(2) अध्यवसायमूल
(3) विरोधमूल
(4) वाक्यन्यायमूल
(5) लोकव्यवहारमूल
(6) तर्कन्यायमूल
(7) शृंखलावैचित्र्यमूल

(8) अपह्नवमूल
(9) विशेषण वैचित्र्यमूल।

आधुनिक युग मे डॉ० ओमप्रकाश शर्मा तथा डॉ० नगेन्द्र ने पृथक् ढंग से अलंकारों का वर्गीकरण किया है। डॉ० ओमप्रकाश शर्मा के अनुसार यह वर्गीकरण इस प्रकार है—(1) साधर्म्यमूलक, (2) अतिशयमूलक, (3) संगीतमूलक, (4) नादमूलक, (5) विरोधमूलक, (6) गोपनमूलक। यह वर्गीकरण अलंकारों मे निहित उनकी मूलभूत विशिष्टता के आधार पर किया गया है। डॉ० नगेन्द्र जी ने अलं-कारों से पडने वाले मानसिक कलात्मक प्रभावों के आधार पर उनका वर्गीकरण किया है। इस क्रम में उन्होंने अलकारों को छः भागों मे विभक्त किया है—

(1) साधर्म्यप्रधान अलकार	—	मानसिक स्पष्टता
(2) अतिशयप्रधान अलकार	—	मानसिक विस्तार
(3) वैषम्यप्रधान अलंकार	—	आश्चर्य
(4) औचित्यप्रधान अलंकार	—	अन्विति तृप्ति
(5) वक्रताप्रधान अलंकार	—	जिज्ञासा
(6) चमत्कारप्रधान अलंकार	—	कौतूहल

इस प्रकार अलंकारो के ये छः वर्ग रचनागत कलात्मक प्रभाव मे पाठक के मन पर अपने विशेष प्रभाव डालते हैं।

सामान्यतया डॉ० नगेन्द्र का वर्गीकरण अधिक प्रामाणिक माना जाता है।

अलकार, रस एवं ध्वनि का सम्बन्ध

अलंकार एवं रस का सम्बन्ध—अलंकार तथा रस के सम्बन्ध मे प्रारम्भ से ही अलंकारिक संगम हैं। अलंकार के प्रारम्भिक आचार्य उसे इस तरह से परि-भाषित करते है कि सम्पूर्ण रस व्यापार अलंकार के अन्तर्गत समाहित हो उठता है। आचार्य दण्डी ने सर्वप्रथम सम्पूर्ण रसों एवं भावों को रसवत्, प्रेयस, ऊर्ज्वस्विन के अन्तर्गत रखा था। उनके अनुसार सम्पूर्ण शृंगारादि आठो रस रसवत् अलंकार है। आचार्य दण्डी ने प्रेयस् के अन्तर्गत प्रीति तथा भक्ति भाव को रखा है। इस प्रकार आचार्य दण्डी समस्त रसो एवं भावो को आलंकारिक स्वरूप देने की चेष्टा की है। गुणवादी आचार्यों ने रस तथा अलंकार के बीच अतिशयता के माध्यम से सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया है। उनके अनुसार गुण मे अतिशयता की वृद्धि करते हैं। इस अतिशयता की वृद्धि से रसदीप्ति होती है और इस प्रकार गुण का सहयोग लेकर अलंकार रस से सीधे जुडता है।

ध्वनिवादियों ने अलंकार तथा रस के सम्बन्ध को भिन्न प्रणाली से स्पष्ट किया है। उनके अनुसार अलंकार कभी-कभी रस को दीप्त होने मे सहायक होवे

हैं। उन्होंने इसे दो प्रकार से स्पष्ट किया है। उनके अनुसार अलंकार का सम्बन्ध गुणी भूतव्यंग्य से है। गुणीभूतव्यंग्य का मुख्य कार्य काव्य मे चारुता उत्पन्न करना है और इस चारुता के माध्यम से अलंकार रस-ध्वनि से जुड जाता है—

प्रकारोऽयं गुणीभूतव्यंग्योऽपि ध्वनिरूपताम्।
धत्ते रसादितात्पर्य पर्यालोचनया पुनः॥

दूसरे सन्दर्भ को स्पष्ट करते हुए उन्होने बताया है कि अलंकार रचना के अपरिहार्य धर्म नही हैं। वे कभी-कभी रचना मे प्रयुक्त अंग रूप में स्थित रस को उद्दीप्त करने का वातावरण तैयार करते है। मूलतः रस एव अलंकार का प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही है। अलंकार अर्थरचना का तत्त्व है और अर्थ रचना सम्पूर्ण कल्पनापूर्ण प्रसंग के निर्माण का कारण बनकर रसदीप्ति का प्रकारान्तर हेतु बनाता है।

इस प्रकार रस तथा अलंकार काव्य रचना में अपनी भिन्न-भिन्न प्रकृति से संयुक्त है। रस पाठक का आस्वादन है तथा अलंकार रचनाकार के सृजन का अर्थगत कौशल है। अलंकार का सम्बन्ध कविप्रतिभा से उत्पन्न अर्थगत चमत्कार से है जो रचना मे रस के आस्वाद्य होने का एक विशिष्ट वातावरण निर्मित करता है।

अलंकार का महत्त्व—काव्य रचना मे अलंकार का महत्त्व अपरिहार्य है। यह कवि की रचनाधर्मिता का अनिवार्य अंग है और रचना के भाषिक स्तर पर उसके सृजन कौशल से जुडा हुआ है। सृजन कौशल के रूप में इसे आचार्य भोज ने "वक्रोक्ति" के नाम से पुकारा है। उनके अनुसार स्वभावोक्ति वक्रोक्ति तथा रसोक्ति यही तीन तत्त्व काव्यवाणी के लिए आधार है। वक्रोक्ति ही मूलतः अलंकार विधान है।

प्रारम्भिक आचार्यों ने अलंकार को रचना का अनिवार्य धर्म माना है। उनके अनुसार अलंकार के अभाव मे कविता का कोई महत्त्व नही है। आचार्य भामह कहते हैं—

न कान्तमपिनिर्भूषं विभाति वनितामुखम्।

जिस प्रकार रमणीक होता हुआ रमणी का मुख बिना अलंकार के शोभित नहीं होता उसी प्रकार बिना अलंकार के "कविता"।

आचार्य भोज ने बताया है कि—"अलंकाररहिताविधवैव सरस्वती" अलकार विहीन कविता-सरस्वती विधवा की भाँति प्रतीत होती है।

हिन्दी के आचार्य केशवदास ने बताया है कि—

जदपि जाति सुलच्छिनी सुबरन सरस सुवित्त।
भूषन बिन न विराजई कविता वनिता मित्त॥

इस प्रकार, आलंकारिक बिना अलंकार के कविता का महत्त्व स्वीकार करने के लिए तैयार नही हैं।

मूलतः अलंकार का किसी भी काव्य रचना में अपना विशिष्ट महत्त्व है। इस महत्त्व का कारण है—कविता का शब्दार्थमय होना। शब्दार्थ का सृजन ही काव्य की अनिवार्यता है। इस सृजन के अन्तर्गत रचनाकार किसी मन्तव्य विशेष को स्पष्ट करने के लिए शब्द तथा अर्थ की रचना करता है। रचना की विविध शैलियों के द्वारा वह भाषिक माध्यमों से अपने मन्तव्य का सम्प्रेषण पाठक तक कराना चाहता है। इस सम्प्रेषण धर्मिता के लिए कवि द्वारा अर्थरचना के स्तर पर किया गया भाषिक विधान ही अलंकार है। इस प्रकार अलंकार काव्यभाषा के अर्थसृजन की प्रारम्भिक आवश्यकता है।

आलंकारिकों ने कथन की सामान्य सी-सामान्य अभिव्यक्ति से लेकर गूढ़ार्थ तथा जटिल कथन रूपों को अलकार के अन्तर्गत समाविष्ट किया है। कथन की विविध-शैलियाँ सादृश्य अध्यवसाय, विरोध, गम्य, न्याय आदि को अलकार रचना के अन्तर्गत ही सार्थकता मिली है। इसीलिए आचार्यों ने बताया है कि अलकारों की कोई सीमा नहीं है "अनन्ता ही वाग्विकल्पा अनन्ता ही अलंकार"

अलंकारों के कारण काव्य रचना में जो भी कलात्मक विशिष्टता उत्पन्न होती है, उसका प्रभाव अपने में विशिष्ट है। अलंकार रचना के ही प्रभाव के कारण उसके प्रति पाठक के मन में आश्चर्य, कौतूहल, जिज्ञासा, अभिरुचि, विस्मय आदि की उत्पत्ति होती है और ये उनमें अन्तश्चमत्कार उत्पन्न करते हैं। यही अन्तश्चमत्कार ही प्रीति है। इस प्रीति के कारण पाठक को कलात्मक तृप्ति मिलती है। यही तृप्ति ही अर्थरस है। इस तृप्ति रूप अर्थ रस की मानसिक भूमिका तक सहृदय को यही अलंकार ही ले जाते हैं।

आचार्य मम्मट ने बताया है कि अलंकार शून्य रहने पर भी काव्यत्व की हानि नहीं होती—

क्वचित्तु स्फुटालंकार विरहेऽपि न काव्यत्वहानिः।

प्रतिहारेन्दुराज ने बताया है कि गुण के अभाव में काव्य काव्यतत्त्व से च्युत समझा जा सकता है किन्तु अलंकारों के अभाव का काव्यत्व पर कोई प्रभाव नहीं पडता—

गुणरहितं हि काव्यं अकाव्यमेव भवति न तु अलंकार रहितम्।

मूलतः अलकारों का सम्बन्ध काव्य की भाषिक रचना से है। ये काव्य भाषा एवं अर्थ व्यापार को सामान्य भाषा से विशिष्ट बनाते हैं। यही नहीं, काव्य रचना में कथन की भंगिमा अर्थ निर्मित से सम्बद्ध है। अतः काव्य के भाषा वैशिष्ट्य तथा अर्थभंगिमा के निर्माण को ध्यान में रखते हुए इसे नितान्त उपेक्षित तत्त्व नहीं माना जा सकता। काव्य की भाषिक एवं अर्थगत रचना की दृष्टि से इनका अपना महत्त्व है। दूसरी ओर, यह भी सत्य है कि यह काव्य का अपरिहार्य तथा अनिवार्य तत्त्व नहीं है।

6
विशिष्ट अलंकारों का परिचय

शब्दालंकार

अनेक आलंकारिकों ने 'शब्दालकार' के अस्तित्व को अस्वीकार किया है। उनके तर्क के अनुसार अनुप्रास तथा यमक का सम्बन्ध गुण रचना से है। श्लेष अर्थालंकार है तथा वक्रोक्ति भी अर्थालंकर के अन्तर्गत है। वीप्सा, पुनरुक्ति, पुनरुक्तिपदाभास, पुनरुक्तिवदाभास आदि का अलकारत्व सन्देहास्पद है। फिर भी, प्रचलनवश शब्दालंकार के अन्तर्गत गिनाए गए कतिपय अलंकारों का विवेचन यहाँ आवश्यक है।

अनुप्रास

आचार्य भामह—अनुप्रास को परिभाषित करते हैं—
'सरूप वर्णों के विन्यास को अनुप्रास कहते हैं।'
उन्होंने इसके रूपों की ओर संकेत किया है—
1. नागरिक अनुप्रास
2 ग्राम्य अनुप्रास
आचार्य वामन—अनुप्रास को परिभाषित करते हुए कहते—

शेष. सरूपोऽनुप्रासः

यमक के अतिरिक्त (शेष) सरूप (तुल्य रूप) पद का नाम अनुप्रास है। अग्निपुराण के अन्तर्गत अनुप्रास इस प्रकार परिभाषित किया गया है—

स्यादावृत्तिरनुप्रासो वर्णानां पद वाक्ययोः।
एक वर्णोऽनेकवर्णों वृत्तेवर्णगणो द्विधा॥

पद और वाक्य में वर्णों की आवृत्ति का नाम अनुप्रास है। इसके दो भेद हैं, एकवर्णागतावृत्ति तथा अनेकावर्णागतावृत्ति।

सामान्यतया अनुप्रास के 5 भेद किये जाते हैं—छेकानुप्रास, वृत्यनुप्रास, श्रुत्यनुप्रास, अन्त्यानुप्रास तथा लाटानुप्रास।

छेकानुप्रास—इसका सम्बन्ध अनुप्रास रचना में निहित कवि कौशल से है। 'छेक' का अर्थ है, 'वाक् चातुर्य'। सचेष्टतः वाक् चातुर्य से परिपूर्ण 'एक' या 'एकाधिक' वर्णों की आवृत्ति को छेकानुप्रास कहा जाता है। यथा—

अमिय मूरिमय चूरन चारू। समन सकल भवरुज परिवारू।

म, म, र र, स स, रू रू की आवृत्ति सचेष्ट भाव होने के कारण छेकानुप्रास है।

वृत्यनुप्रास—काव्य के अन्तर्गत पाँच वृत्तियाँ बताई गई हैं—मधुरा, ललिता, प्रौढा, परुषा और भद्रा। कतिपय विद्वान कहते हैं कि वर्णों का इन वृत्तियों के अनुसार साम्य ही वृत्यानुप्रास है। कतिपय आचार्य उपनागरिका, परुषा तथा कोमलता इन तीन ही वृत्तियों को मान्यता देते हैं। इन वृत्तियों के अनुकूल वर्ण साम्य ही वृत्यनुप्रास है। यथा—

कंकन किंकिनि नुपुर, धुनि सुनि। कहत लखन सन राम हृदय गुनि।

'न' वर्ण की पाँच बार आवृत्ति और कोमलता या मधुरा वृत्ति का पोषण करने के कारण इसे वृत्यनुप्रास कहा जाता है।

श्रुत्यनुप्रास—मुख के उच्चारण स्थान से सम्बन्धित विशिष्ट वर्णों के साम्य को श्रुत्यनुप्रास कहते हैं। जैसे 'प' वर्ग का सम्बन्ध ओष्ठ्य से है, 'च' वर्ग का सम्बन्ध तालु से है—आदि। एक ही उच्चारण स्थान से निर्गत होने वाले वर्णों का साम्य यहाँ आवश्यक है। यथा—

पाप पहार प्रगट भइ सोई। भरी क्रोध जल जाइ न जोई।

'प' वर्ग अर्थात् ओष्ठ्य एव ज वर्ग आदि तालव्य वर्णों की आवृत्ति के कारण श्रुत्यानुप्रास अलंकार है।

अन्त्यानुप्रास—जहाँ पद के अन्त में एक ही वर्ण और एक ही स्वर की साम्यमूलक आवृति हो, उसे अन्त्यानुप्रास कहते है। यथा—

बंदऊँ गुरपद कंज, कृपा सिन्धु नर रूप हरि।
महा मोह तम पुंज, जासु बचन रविकर निकर।

'ज', 'ज' तथा 'र', 'र' के 'साम्य' से अन्त्यानुप्रास है।

लाटानुप्रास—तात्पर्य भेद से शब्द तथा अर्थ की आवृति ही लाटानुप्रास है।

यथा—मधु खंडन परिनाम है सिय रानी को पीय।
मधु खंडन परिनाम है सियरानी को पीय।

मधु दैत्य का वध (खंडन) ही जिसका परिणाम है, ऐसे सीतापति राम का नाम मधु (मिठाई) के टुकड़े (खंडन) से बढ़कर है।

यहाँ 'शब्द' तथा 'अर्थ' का साम्य होते हुए भी श्लेष तथा यमक से भिन्न तात्पर्यभेद को व्यजित किया गया है।

यमक

यमक का उल्लेख सर्वप्रथम आचार्य भारत ने किया था। आचार्य दण्डी के अनुसार इसकी परिभाषा इस प्रकार है—

अव्यपेतव्यपेतात्मा व्यावृत्तिवर्णसंहते. ।
यमकं तच्च पादानामादिमध्यान्त गोचरम् ।।

'व्यवधानरहित तथा व्यवधानयुक्त' स्वभाव वाले वर्ण समूह की विशिष्ट आवृति को यमक कहते हैं।

आचार्य वामन के अनुसार यमक की परिभाषा इस प्रकार है—

पदमनेकार्थमक्षरं वा वृत्तं स्थाननियमे यमकम् ।

स्थान नियम के रहने पर अनेकार्थक पद अथवा अक्षर की आवृत्ति को 'यमक' कहते हैं। स्थान-नियम का अर्थ है—पद के आदि, मध्य, अन्त में साजातीय के साथ सम्पूर्ण रूप से या एकदेश रूप से अनेक पादों मे व्याप्त होना।

आचार्य केशवदास यमक को परिभाषित करते हुए कहते है—

पद एकै नाना अरथ जिनसे जेतो बित्त ।
तामे ताको काढ़िये यमक माहि दै चित ।।

'पद एक-से हों किन्तु उनमें भिन्नार्थ हो' यह 'यमक' की सबसे सीधी परिभाषा है।

यमक के अनेक भेदों की चर्चा संस्कृत अलंकार ग्रंथो के अन्तर्गत की गई है। किन्तु, अतिसंक्षेप में उसके तीन भेदों की चर्चा आवश्यक है—

(1) आदिपद यमक
(2) मध्यपद यमक
(3) अन्तपद यमक

(1) आदिपद यमक—जहाँ प्रारम्भिक पद मे 'आवृत्ति' दिखाई पडे—

यथा—सजनी सज नीरज निरखि, हरषि नचत इत मोर ।
पीय पीय चातक रटत चितवहिं हरि की ओर ।।

'सजनी' 'स+जनी' यहाँ प्रारम्भिक पदो मे ही आवृत्ति दिखाई पडती है

(2) अन्तपद यमक—राधा केशव कुँवर की, बाधा हरहु प्रवीन ।
नेक सुनावहु कृपा करि शोभन वीन नवीन ।।

यहाँ अन्त मे शोभन+वीन तथा 'नवीन' के पद की आवृत्ति से अन्त पद यमक है।

(3) मध्यपद—तो पर वारौं उरबसी, सुनु राधिके सुजान।
तू मोहन के उर बसी, ह्वै, उर बसी समान ॥

यहाँ 'उरबसी' एव 'उर बसी' पद के मध्यमद यमक है।

श्लेष—आचार्य भामह ने इसको 'श्लिष्ट' नाम से पुकारा है। उन्होंने इसको परिभाषित करते हुए बताया है कि—

उपमानेन यत्तत्त्वमुपमेयस्य साध्यते
गुण क्रियाभ्यां नाम्ना च श्लिष्ट तदभिधीयते।

(श्लिष्ट शब्द के माध्यम से) गुण, क्रिया और सज्ञा मे उपमान के गुण, क्रिया एवं संज्ञा का अभेद बताया जाता हो, श्लेष अलकार है।

आचार्य उद्भट ने श्लेष को इस प्रकार परिभाषित किया है—

एक प्रयत्नोच्चार्याणां तच्छायां चैव बिभ्रताम्।
स्वरितादिगुणैर्भिन्नैर्बन्धः श्लिष्टमिहोच्यते ॥

जो भिन्नार्थ होकर भी एक ही ढंग से उच्चरित होते हैं। अथवा स्वरित आदि गुणों के भेदवश भिन्न होने पर ऐसा लगता हो जैसे एक ही तरह के प्रयत्न से सादृश्य सम्पन्न होने वाले शब्द उच्चरित हो रहे हों—श्लेष है।

आचार्य वामन ने श्लेष को परिभाषित करते हुए बताया है कि—

स च धर्मेषु तन्त्रप्रयोगे श्लेषः

तन्त्र के प्रयोग होने पर (उपमान और उपमेय) के धर्मों मे आरोपित तत्त्व को श्लेष कहते हैं। एक बार उच्चारण से अनेक अर्थों के बोध को तन्त्र कहते हैं।

(1) एक बार उच्चारण करने से अनेक अर्थों का बोध हो।

(2) धर्म मे आरोपण हो

(3) उपमेय एव उपमान के बीच अभिन्नता का आधार शब्दगत अर्थ हो।

श्लेष का अनेक रूपो में भेद-प्रभेद किया है। किन्तु हिन्दी में उसके दो ही भेद अधिक प्रसिद्ध हैं—

(1) अभंगपद श्लेष

(2) सभंगपद श्लेष

(1) अभंगपद श्लेष—जहाँ अर्थ की भिन्नता के लिए पद एवं पदाशों को खण्डित न करना पड़े—

रावन सिर सरोज बन चारी। चलि रघुबीर 'सिलीमुख धारी'

'सिलीमुख' शब्द में श्लेष है, जिसमें भ्रमर तथा 'बाण' के दो अर्थ निहित हैं, और अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति के लिए पद का विग्रह नहीं करना पड़ता।

(2) सभंगपद श्लेष—जहाँ अर्थ की भिन्नता के लिए पद या पदांशो को खण्डित करना पड़े—

बंदौं गुरु पद कंज, रामायन जेहिं निरमयउ।
सखर सुकोमल मंजु, दोष रहित दूषनसहित ॥

'सखर' का 'स+खर' एवं 'दूषनसहित' का 'दूषन+सहित' खण्ड करने के बाद ही अभीष्टार्थ मिल पाता है।

वक्रोक्ति

प्रारम्भ मे आचार्य भामह ने वक्रोक्ति को अलंकारत्व का मूलधर्म माना। आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को एक भिन्न काव्यसिद्धात के रूप में वर्णित किया है। परवर्ती काल मे यह एक महत्त्वपूर्ण अलंकार माना जाता रहा है। आचार्य वामन वक्रोक्ति को परिभाषित करते हुए कहते है—

"सादृश्य लक्षणावक्रोक्तिः"

अर्थात् लक्षणा को सादृश्य से सिद्ध करने पर वक्रोक्ति की स्थिति आती है। पुष्प गंधमय है के स्थान पर यदि कहा जाए कि 'पुष्प निश्वसित हो रहे है' तो यहाँ वामन के अनुसार वक्रोक्ति है। निश्वसित होना मानव धर्म है जो सादृश्य के कारण पुष्प पर आरोपित है। परवर्ती काल में वक्रोक्ति के अर्थ एवं स्वरूप म पर्याप्त परिवर्तन किया गया।

आचार्य केशवदास ने इस प्रकार परिभाषित किया है—

केसौ सूधी बात में, बरनत टेढ़ो भाव।
वक्रोकति तासों कहैं, सही सबै कविराव।

शब्द सीधे-सादे हों पर तात्पर्य मे गूढ़ व्यग्य हो—वह वक्रोक्ति है।

सामान्यतया हिन्दी में इसे इस प्रकार परिभाषित किया जाता है—जहाँ कंठगत (काकु) या श्लेषादि की विशेषताओं के आधार पर सामान्य वाक्य में विशिष्ट अर्थ को व्यजित कराया जाए, वहाँ वक्रोक्ति अलंकार स्वीकार किया जाता है।

काकु (कंठगत) विशेषता

बाउ कृपा मूरति अनुकूला। बोलत बचन 'झरत जनु फूला'

कंठगत विशेषता से 'फूल झड़ने' का अर्थ 'कंटक चुभने का होगा'।

श्लेषादि

हौं 'घनस्याम' विरमि विरमि, बरसौं नेह लगाय।
प्रिय, हरि हौं, कित हौ यहाँ, रमौ कुंज बन जाय।

यहाँ वक्ता अपने को घनश्याम कृष्ण बताता है किन्तु, श्रोता छलपूर्वक उसका अर्थ 'बादल' करता है। 'हरि' पुनः कृष्ण को सूचित करता है किन्तु श्रोता छलपूर्वक 'हरि' का अर्थ कृष्ण से नहीं लगाता। यहाँ श्लेष के द्वारा वक्रता का विधान किया गया है।

अर्थालंकार

अर्थालंकार का मुख्य प्रयोजन अर्थ में चारुता उत्पन्न करना है। हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत अलंकारों से प्रभावित अर्थशक्ति पर अनेक कार्य किये गये हैं। काव्य रचना के ऊपर इनका अपना विशेष प्रभाव पड़ता है। अलंकारों का मनोवैज्ञानिक-पक्ष भी है। ये पाठक के मन पर चमत्कार, प्रासादिकता, सामाजिक आनन्दावेश, समता आदि कलात्मक प्रभावों को डालने में सहायक बताये गये हैं। कतिपय महत्त्वपूर्ण अर्थालंकारों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

उपमा

उपमेय उपमान के बीच स्थापित साधर्म्य के कारण इस अलंकार का जन्म होता है। संस्कृत साहित्य में उपमा को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। आचार्य राजशेखर ने उपमा को सम्पूर्ण अलंकारों की जननी कहा है। आचार्य अप्पय दीक्षित उपमा को अलंकारों का शिरोरत्न कहते हैं। उपमा के समर्थक आलंकारिकों का यह दावा है कि उपमा के अभाव में शेष अलंकारों का अलंकारत्व महत्त्वशून्य है। इसको आचार्यों ने इस प्रकार परिभाषित किया है। आचार्य दण्डी कहते हैं—

यथाकथंचित् सादृश्यं यत्रोद्भूतं प्रतीयते।
उपमा नाम सा तस्याः प्रपंचोऽयं प्रदर्श्यते।

किन्हीं दो पदार्थों के बीच वर्णित सादृश्य से उपमा होती है।

आचार्य भामह उपमा को परिभाषित करते हुए बताते हैं—

विरुद्धेनोपमानेन देशकाल क्रियादिभिः।
उपमेयस्य यत्साम्यं गुणलेशेन सोपमा।

देश, काल, क्रिया आदि के कारण भिन्न उपमान के साथ उपमेय के गुणलेश का साम्य ही उपमा है।

'साम्य' शब्द के लिए संस्कृत के आचार्यों ने समता, तुल्यता, सादृश्य, साधर्म्य आदि शब्दो का प्रयोग किया है किन्तु उसके लिए सबसे प्रामाणिक 'साधर्म्य' शब्द ही है ।

उपमा के चार तत्त्वो की चर्चा प्रारम्भ से ही की जाती रही है—

(1) **उपमेय** -जिसको उपमित किया जाए वह उपमेय है ।

(2) **उपमान**—जिससे उपमित किया जाए वह उपमान है ।

(3) **साधारण धर्म**—जिस 'धर्मसाम्य' को आधार बनाकर उपमेय-उपमान मे एकता स्थापित की जाये वह—साधारण धर्म है ।

(4) **वाचक**—जिन शब्दो के माध्यम से 'साधर्म्य' प्रकट किया जाए उसे वाचक या निपात् कहा जाता है । सा, सी, से, इव आदि उपमा के वाचक शब्द हैं, यथा हरिपद कोमल कमल से ।

हरिपद—उपमेय

कमल—उपमान

कोमल—साधारण धर्म

से—वाचक शब्द

उपमा के भेद

आचार्यों ने उपमा के भेदो को दो भागों में विभक्त किया है ।

(1) **सादृश्य के आधार पर**—वस्तूपमा, विपर्यासोपमा, नियमोपमा, अनियमोपमा, अतिशयोपमा आदि ।

(2) **निर्दिष्ट उपमा के तत्त्वों की परिपूर्णता या अभाव के आधार पर** जैसे, पूर्णोपमा, लुप्तोपमा सामान्यतया पूर्णोपमा तथा लुप्तोपमा । ये भेद हिन्दी साहित्य मे अधिक प्रसिद्ध हैं ।

पूर्णोपमा—जिस उपमा के उदाहरण में उपमा के सम्पूर्ण तत्त्व वर्तमान हो, उसे पूर्णोपमा कहा गया है । यथा—

पीपर पात सरिस मन डोला ।

इस वाक्य में उपमा के चारों तत्त्व वर्तमान है ।

लुप्तोपमा को क्रमशः उनके तत्त्वों के लोप के कारण 4 भागों में विभक्त किया जाता है—

(1) उपमेय लुप्तोपमा

(2) उपमान लुप्तोपमा

(3) साधारणधर्म या धर्मलुप्तोपमा

(4) वाचक लुप्तोपमा

सादृश्य के आधार पर उपमा के भेदों में निम्नलिखित अधिक महत्त्वपूर्ण हैं—

1. मालोपमा—आचार्य केशवदास मालोपमा को परिभाषित करते हुए कहते हैं—

जो जो उपमा दीजिये, सो सो पुनि उपमेय।
सो कहिये मालोपमा, केसव कवि कुल गेय।

पहले कोई बात कही जाये जिसमें उपमेय और उपमान हों, फिर वही उपमान उपमेय बनता जाए, और नया उपमान कहा जाए।

आचार्य दण्डी ने मालोपमा को परिभाषित न करके केवल एक दृष्टान्त द्वारा समझाने की चेष्टा की है—जिस प्रकार तेज सूर्य को, सूर्य दिवस को और दिवस आकाश को प्रकाश देता है उसी प्रकार पराक्रम ने तुममें लक्ष्मी को निहित किया।

किन्तु, अनेक आलंकारिकों ने 'मालोपमा' को इस प्रकार परिभाषित किया है—एक उपमेय के लिए प्रयुक्त अनेक उपमान मालाओं में युक्त सादृश्य उपमा-माला है।

अनन्वयोपमा—जहाँ किसी सिद्ध उपमेय के लिए सिद्ध उपमान न मिल सकने के कारण उपमेय को ही उपमान स्वीकार कर लिया जाए। यथा—

लही न कतहुँ हार हिय मानी।
इन सम ये उपमा उर आनी॥

रूपक

आचार्य दण्डी रूपक को इस प्रकार परिभाषित करते हैं—

'उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमुच्यते'

अर्थात्, प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत का विशेष ज्ञान तिरोहित हो जाना ही रूपक है। आचार्य भामह रूपक को परिभाषित करते हुए बताते हैं—

उपमानेन यत्तत्त्वमुपमेयस्य रूप्यते।
गुणानां समतां दृष्ट्वा रूपकं नाम तद्विदुः।

गुणों की समता को ध्यान में रखकर उपमान के साथ उपमेय का तादात्म्य निरूपण ही रूपक है।

मूलतः उपमेय में उपमान का अभेद आरोपण ही रूपक है।
आचार्य केशवदास रूपक को इस प्रकार परिभाषित करते हैं—

उपमा ही के रूप सों, मिल्यो बरनिये रूप।
ताहीं सो सब कहत हैं, केशव रूपक रूप॥

जहाँ उपमेय तथा उपमान को एक करके कहा जाए, वहाँ रूपक होता है

रूपक के भेदों की चर्चा अनेक रूपों में की गई है। आचार्य दण्डी सकल रूपक (साङ्ग रूपक), अवयव रूपक, अवयवि रूपक, युक्त रूपक, अयुक्त रूपक, विषम रूपक आदि भेदों की चर्चा करते हैं। आचार्य भामह समस्त वस्तुविषय एवं एक देशविवर्ति इस प्रकार से दो भेद करते हैं। आचार्य केशवदास ने इसको तीन भागों मे विभक्त किया है—अद्भुत रूपक, विरुद्ध रूपक, रूपक रूपक। काव्य-प्रकाशकार ने इसको तीन भागो मे विभक्त किया है—

(1) साङ्गरूपक, (2) निरङ्गरूपक, (3) परम्परित रूपक

हिन्दी मे सामान्यतया आचार्य मम्मट द्वारा निर्दिष्ट भेद प्रचलन मे है—

साङ्गरूपक—जहाँ उपमेय मे उपमान को साङ्गोपांग रूप से अभेद आरोपित किया जाए—

जैसे—उदित उदयगिरि मंच पर, रघुबर बाल पंतग।
बिकसे संत सरोज सब, हरषे लोचन भृंग।

निरङ्गरूपक—जहाँ उपमेय में उपमान के एकाङ्ग विशेष को अध्यवसित कराया जाये। यथा—

मुख-कमल समीप सजे थे, दो किसलय दल पुरइन के।

परम्परित—परम्परित रूपक साङ्गरूपक की भाँति है किन्तु परम्परित रूपक मे आरोपान्तर ही निमित्त होता है। मूलत. मूल आरोप एव सम्बद्ध अन्य आरोपों मे कार्यकारण सम्बन्ध बना रहता है—

सुनिय तासु गुणग्राम जासु नाम अघ खल बधिक।

दीपक

आचार्य भरत के अनुसार—

नाना प्रकार के शब्द जब एक दूसरे को परस्पर दीप्त करते हुए एक वाक्य मे स्थित हों, वहाँ दीपक अलकार होता है।

आचार्य दण्डी दीपक को इस प्रकार परिभाषित करते हैं—

जातिक्रियागुणद्रव्य वाचिनैकत्र वर्तिना।
सर्ववाक्योपकारश्चेत् तमाहुर्दीपकं यथा।

एक विशिष्ट वाक्य में स्थित जाति, क्रिया, गुण द्रव्य वाचक पद द्वारा समस्त वाक्य अन्वययुक्त किया गया हो तो उसे दीपक अलंकार कहते हैं।

कविराज विश्वनाथ इसे इस प्रकार परिभाषित करते हैं—

अप्रस्तुत प्रस्तुतयोर्दीपकं तु निगद्यते।
अथ कारकमेक स्यादनेकासु क्रियासु चेत्।

जहाँ प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत पदार्थों मे एक धर्म का सम्बन्ध हो अथवा अनेक क्रियाओं का एक ही कारक हो—

यथा— सुर महिसुर हरिजन अरु गाई।
हमरे कुल इन्ह पर न सुराई।

प्रतीप

अप्पय दीक्षित ने प्रतीप को परिभाषित करते हुए बताया है—

प्रतीपमुपमानस्योपमेयत्वप्रकल्पनम्।

अर्थात्, उपमेय को उपमान बना देना ही प्रतीप है।

आचार्य अप्पय दीक्षित ने इसके पाँच भेदों की कल्पना की है। (1) प्रसिद्ध उपमेय को उपमान बना दिया जाना (2) उपमान को उपमेय बनाकर प्रसिद्ध उपमेय का निरादर (3) प्रसिद्ध उपमेय को उपमान बनाकर उपमान का निरादर (4) उपमान को उपमेय की उपमा के अयोग्य बताना (5) जहाँ उपमान को व्यर्थ बताया जाए। यथा—

(1) उतरि नहाए जमुन जल जो सरीर सम स्याम।

प्रसिद्ध उपमेय राम के शरीर की नीलिमा को उपमान बनाया गया है।

(2) नाचहिं खग अनेक बारीसा। सुर न झाँहिले सुनु सब कीसा।

यहाँ खग से कीश की उपमा दी जाने के बाद पुनः उपमेय रूप 'कीश' का अनादर किया गया है।

(3) भूपति भवन सुभायँ सुहावा। सुरपति सदनु न पटतर आवा।

प्रसिद्ध उपमान 'इन्द्र सदन' की हीनता चित्रित करने के कारण तृतीय प्रतीप है।

(4) बहुरि बिचारु कीन्ह मन माहीं। सीय बदन सम हिमकर नाहीं।

'चन्द्र' को मुख के अयोग्य सिद्ध किया जा रहा है।

(5) जनम सिंधु पुनि बंधु विषु दिन मलीन सकलंकु।
सिय मुख समता पाव किमि चंद बापुरो रंक।

चन्द्र को अनेक कारणों से मुख की तुलना में असमर्थ सिद्ध किया जा रहा है।

उत्प्रेक्षा

उत्प्रेक्षा को परिभाषित करते हुए आचार्य राजानक रुय्यक ने बताया है—

अध्यवसाये व्यापारप्राधान्ये उत्प्रेक्षा

अध्यवसायमूलक अलंकारों में व्यापार प्राधान्य के कारण उत्प्रेक्षा होती है। साहित्य-दर्पणकार आचार्य विश्वनाथ बताते है—

भवेत्संभावनोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परात्मना।

उपमेय में उपमान की सम्भावना या कल्पना ही उत्प्रेक्षा है। जानो, मानो, जनु, मनो, ज्यों आदि इसके वाचक शब्द है।

सामान्यतया हिन्दी मे उत्प्रेक्षालंकार के चार भेद किये जाते है (1) वस्तूत्प्रेक्षा, (2) हेतूत्प्रेक्षा, (3) फलोत्प्रेक्षा, (4) गम्योत्प्रेक्षा

(1) **वस्तूत्प्रेक्षा**—जहाँ किसी वस्तु के सरूपादि के स्पष्टीकरण के लिए अन्य वस्तु की सम्भावना या कल्पना की जाये—

रिषिन्ह गौरि देखी तहँ कैसी। मूरति मंत तपस्या जैसी।

'गौरि' के लिए 'तपस्या' उपमान की कल्पना वस्तु के लिए वस्तु की कल्पना के रूप मे हैं।

(2) **हेतूत्प्रेक्षा**—जहाँ अहेतु की हेतु के रूप में कल्पना की जाए वहाँ हेतूत्प्रेक्षा होती है—

राम सप्रेम पुलकि उर लावा। परम रंक जनु पारस पावा।

परम रंक पारस प्राप्त करना (अहेतु की कल्पना द्वारा) सप्रेम राम के द्वारा अंक से लगाए जाने के लिए एक असम्भावित कल्पना है।

(3) **फलोत्प्रेक्षा**—अवास्तविक फल को फल के रूप मे कल्पित किए जाने पर फलोत्प्रेक्षा होती है—

पुनि पुनि मोहि दिखाव कुठारू। चहत उड़ावन फूँकि पहारू।

'फूँक से पहाड़ उड़ाने' की कल्पना यहाँ अवास्तविक फल के रूप में है।

(4) **गम्योत्प्रेक्षा**—जिस उत्प्रेक्षा में वाचकादि (जानो, मानो) आदि लुप्त रहते हैं, उसे गम्योत्प्रेक्षा के नाम से जाना जाता है—

इन्हहि देखि विधि मन अनुरागा। पटतर जोग बनावन लागा।
कीन्ह बहुत स्रम एक न आये। तिहि इरषा बन आनि दुराये।

व्यतिरेक

साहित्य दर्पण मे व्यतिरेक को परिभाषित करते हुए बताया गया है—

आधिक्यमुपमेयस्योपमानान्न्यूनताथवा व्यतिरेक.

उपमेय की उपमान से अधिकता का अथवा (उपमान की) न्यूनता का वर्णन ही व्यतिरेक है।

काव्यप्रकाशकार मम्मट ने बताया है—

उपमानाद्यन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः ।

उपमान की अपेक्षा उपमेय का उत्कर्ष वर्णन ही व्यतिरेक है।
आचार्य केशवदास व्यतिरेक का वर्णन इस प्रकार करते हैं—

तामे आनै भेद कछु, होयँ जु वस्तु समान।
सो व्यतिरेक सु भाँति द्वै, युक्ति सहज परमान।

यहाँ तामैं शब्द का अर्थ 'उपमेय-उपमान' से है। यथा—

संत हृदय नवनीत समाना। कहा कविन्ह परि कहै न जाना।
निज परिताप द्रवै नवनीता। पर दुख द्रवहिं सुसंत पुनीता।

उपमेय 'संतहृदय' की समता में उपमान 'नवनीत' की न्यूनता के वर्णन के कारण यहाँ व्यतिरेक अलंकार है।

भ्रान्तिमान या भ्रम

आचार्य राजानक रुय्यक ने भ्रान्तिमान को इस प्रकार परिभाषित किया है—

'सादृश्यात् वस्त्वन्तर प्रतीति भ्रान्तिमान'

अर्थात्, नितान्त सादृश्य के कारण वस्त्वन्तर की प्रतीति ही भ्रान्तिमान है। वस्तु अन्तर का अर्थ है, भिन्न वस्तु की प्रतीति। मूलतः अवस्तु में वस्तु के निश्चय ज्ञान को भ्रान्तिमान या भ्रम अलंकार कहा जाता है। भ्रम या अवास्तविक वस्तु की प्रतीति काल्पनिक होती है। यथा—

पायँ महावर दैन को, नाइन बैठी आइ।
फिरि फिरि जानि महावरी, एँडी मीड़ति जाय।

एँडी की सहज लालिमा के लिए महावरी (अवस्तु) की काल्पनिक प्रतीति के कारण भ्रम है।

सन्देह

साहित्य दर्पण में सन्देह को इस प्रकार परिभाषित किया गया है—

सन्देहः प्रकृतेऽन्यस्य संशयः प्रतिभोत्थितः

प्रकृत के विषय में अन्य वस्तु का प्रतिभोत्थित संशय सन्देह है। यह केवल उपमान में उपभेद का संशयमात्र नहीं है। आचार्य भामह ने इसीलिए सन्देह की पुष्टि के लिए तीन शर्तों का उल्लेख किया है—

(1) से उपमेय की एकता बताई जाय

(2) ऐसा भेदक तत्त्व निर्दिष्ट किया जाये, जिससे उपमेय-उपमान में भे ज्ञापित हो।

(3) संदिग्ध उक्तियों में उपमेय की स्तुति हो।

इसके वाचक शब्द कि, किधौं, या, अथवा आदि हैं। यथा—

की तुम तीन्हि देव महं कोऊ। नर नारायण की तुम्ह दोऊ।

यहाँ हनुमान का राम के विषय में संदेह, वाचक शब्दावली द्वारा राम एवं त्रिदेव तथा नर-नारायण में भेद ज्ञापन तथा उक्त उपमानों द्वारा उपमेय राम के महत्त्व के निर्देश के कारण सन्देह अलंकार है।

अपह्नुति

'अपह्नुति' का मूल अर्थ है, छिपाया हुआ, मूलतः प्रस्तुत को छिपा कर अप्रस्तुत का उस गोप्य पर आरोपण ही अपह्नुति कहलाती है। साहित्य दर्पण में इसे परिभाषित करते हुए कहा गया है—

'प्रकृत यत् निषिध्यान्यस्थापनं स्यादपह्नुतिः'

जहाँ प्रस्तुत का निषेध करके अप्रस्तुत का उस पर आरोपण किया जाए, वहाँ अपह्नुति अलंकार होता है।

आचार्य रुद्रट ने इसे परिभाषित करते हुए बताया है—

जहाँ दो वस्तुओं में अत्यधिक साम्य होने के कारण वास्तव एवं उपस्थित उपमान को असत् बताया जाए और उपमान को ही सत्य की भाँति प्रतिष्ठित किया जाय वहाँ अपह्नुति अलंकार होता है—

(1) शुद्धापह्नुति—जहाँ उपमेय की सत्यता को छिपाकर अन्य उपमान प्रस्तुत किये जाएँ।

किंसुक गुलाब कचनार औ अनारन की
डारन पै डोलत अंगारन को पुंज हैं।

निर्दिष्ट वृक्षों के पुष्पों छिपाकर उसके स्थान पर 'अंगार पुंजों' अर्थात् असत्य उपमानों को प्रस्तुत किया जा रहा है।

(2) हेत्वापह्नुति—जहाँ उपमेय का सकारण निषेध किया जाये, वहाँ हेत्वापह्नुति होती है—

प्रभु प्रताप बड़वानल भारी। सोखेउ प्रथम पयोनिधि बारी।
तब रिपु नारि रुदन जलधारा। भरेउ बहोरि भयेउ तेहिं खारा।

यहाँ समुद्र के जल के खारेपन का सकारण अपह्नुयन किया जा रहा है।

(3) [illegible] ति—जहाँ उपमेय को ही [illegible] के रूप में प्रतिबद्ध करके [illegible] के गुणों से उसे आविष्ट किया जाए

मरम बचन सुनि राउ, कहु कछु दोष न तोर।
लागेउ तोहि पिसाच जिमि, काल कहावत मोर।

कैकेयी की हठधर्मिता के लिए पिशाच का उपमान और पुनः उसी उपमान से उसे आवेष्टित करने का प्रयास किया गया है।

(4) भ्रान्त्यापह्नुति—जहाँ आरोपित अप्रस्तुत की भ्रान्ति का निराकरण वस्तुस्थिति का बोध कराकर किया जाए—

कहत विभीषन सुनहु कृपाला। होइ न तड़ित न बारिद माला।
लंका सिखर उपर आगारा। तहँ दसकन्धर देख अखारा।

यहाँ 'तड़ित' तथा 'वारिद माला' दोनों अपह्नुत हैं जिनकी वास्तविकता का बोध 'रावण के अखाड़े' के द्वारा कराया गया है।

(5) छेकापह्नुति—गुप्तपूर्वक की गई बातों का श्रोता द्वारा चतुरता पूर्वक निषेध की छेकापह्नुति है—

स्यामल तन पीरो बसन, मिलो सघन बन घोर।
देखो नन्द किसोर अलि, ना सखि, अलि चितचोर।

नन्द किशोर का चतुरतापूर्वक निषेध करके उसके स्थान पर 'चितचोर अलि' की स्थापना की जा रही है।

कैतवापह्नुति—जहाँ प्रस्तुत का प्रत्यक्षतः निषेध न करके किसी बहाने से निषेध किया जाए, वहाँ कैतवापह्नुति होती है। इसमें मिस, व्याज, छल आदि वाचक शब्द के रूप में रहते हैं—

पठइ मोहि मिस खगपति तोही। रघुपति दीन्हि बड़ाई मोही।

यहाँ 'मिस-बहाने' शब्द का प्रयोग करके कवि प्रत्यक्षतः निषेध न करके उसमें एक बहाना लगा रहा है।

स्मरण

जहाँ किसी सादृश्य उपमान आदि के प्रेरक हेतु के द्वारा उपमेय का स्मरण हो—वहाँ स्मरण अलंकार कहा जाता है। काव्य—प्रकाश में आचार्य मम्मट ने इसे परिभाषित करते हुए कहा—

'सदृश्यानुभवात् स्मरणे स्मृतिः'

आचार्य राजानक रुय्यक ने इसे परिभाषित करते हुए बताया है—

सदृशानुभवाद् वस्त्वन्तर स्मृतिः स्मरणम्।

यथा— स्याम सुरति करि राधिका, तकति तरनजा तीर
अँसुवन करति तरौंस कौ, छिनकु खरौंहैं नीर।

'यमुनाजल की श्यामलता' के कारण (कृष्ण) का स्मरण हो जाना स्मरण अलंकार है।

उल्लेख

साहित्यदर्पण में उल्लेख को परिभाषित करते हुए कहा गया है—

क्वचित् भेदाद्ग्रहीतॄणां विषयाणां तथा क्वचित्।
एकस्यानेकधोल्लेखो यः स उल्लेख उच्यते ॥

विषय वस्तु की दृष्टि से या उसे ग्रहण करने वाले व्यक्तियों यथा रुचि (स्वभाव) से एक उपमेय का अनेकधा उल्लेख अलंकार है। सामान्यतया इसके दो भेद किए जाते हैं—

(1) **प्रथम उल्लेख**—जहाँ एक व्यक्ति द्वारा एक ही विषय का अनेक रूप में उल्लेख किया जाता है—

हम सागर के धवल हास हैं, जल के धूम गगन की धूल।
अनिल फेन ऊषा के पल्लव, वारि वसन वसुधा के मूल।

(2) **द्वितीय उल्लेख**—जहाँ अनेक व्यक्तियों द्वारा एक उपमेय का अनेक रूपों में वर्णन किया जाए—

जिन्ह के रही भावना जैसी। प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी।
जोगिन्ह परम तत्त्वमय भासा। सांत सुद्ध सम सहज प्रकासा।
हरिभक्तन्ह देखे दोउ भ्राता। इष्टदेव इव सब सुखदाता।

उदाहरण

जहाँ उपमेय वाक्य की उपमान द्वारा सारी समता प्रकट की जाय, वहाँ उदाहरण अलंकार कहा जाता है। इसके लिए वाचक शब्दावली इव, जैसे, यथा जिमि आदि हैं। यथा—

मोर मनोरथ सुरतरु फूला। फरत करिनि जिमि हतेउ समूला।

जिमि उदाहरण वाची शब्द प्रथम पंक्ति के अर्थ को और अधिक प्रभावशाली बना रहा है।

दृष्टान्त

आचार्य उद्भट दृष्टान्त को इस प्रकार परिभाषित करते हैं—

"जहाँ प्रतिपाद्य उपमेय या उपमेय वाक्य के ठीक प्रतिबिम्बात्मक उपमान या उपमान वाक्य प्रस्तुत किये जाएँ वहाँ दृष्टान्त अलंकार होता है।"

आचार्य मम्मट इसे परिभाषित करते हुए कहते हैं—

"दृष्टान्त पुन. एतेषां सर्वेषां प्रतिबिम्बनम्"

अर्थात्, उपमेय, उपमान एवं साधारण धर्म का बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव होना ही दृष्टान्त है। यथा—

भरतहिं होइ न राजमद, विधि हरिहर पद पाइ।
कबहुँ कि काँजी सीकरनि, छीर सिन्धु बिनसाइ।

प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत वाक्य में प्रत्येक दृष्टि से बिम्ब-प्रतिबिम्बता ही यहाँ दृष्टान्त अलंकार को सिद्ध कर रहा है।

निदर्शना

आचार्य उद्भट निदर्शना को इस प्रकार परिभाषित करते हैं—

अभवन् वस्तु सम्बन्धो भवन्वा यत्र कल्पयेत्।
उपमानोपमेयत्वं कथ्यते सा निदर्शना।

वस्तु में सम्बन्ध का अभाव रहने पर भी उसके सम्बन्ध की कल्पना करते हुए उपमान एवं उपमेय का कथन करना निदर्शना है। इसके लिए वाचक शब्द जो सो, ते जे, ऐसे, जैसे, तैसे आदि युग्म में रहते हैं। यथा—

'मंगल सकल सोहाहिं न कैसे। सहगामिनिहि विभूषन जैसे'

'कैसे-जैसे' समता वाची शब्दों द्वारा प्रकट समता सम्बन्ध के कारण दृष्टान्त अलंकार है।

अप्रस्तुत-प्रशंसा

अप्रस्तुत के वर्णन में जहाँ सायास प्रस्तुत का लक्ष्य प्रकट किया जाये—वहाँ अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार होता है। यह समासोक्ति का विपरीतधर्मी अलंकार है। आचार्य दण्डी ने इसे इस प्रकार परिभाषित किया है—

"अप्रस्तुत प्रशंसा स्याद् प्रकान्तेषु या स्तुति."

जहाँ प्रकारान्तर (प्रस्तुतादि की निन्दा के लिए) से अप्रस्तुत की स्तुति की जाए, वहाँ अप्रस्तुत प्रशसा अलकार होता है। आगे चलकर, इसके लक्षण में विस्तार किया गया—काव्यप्रकाशकार मम्मट बताते हैं—

अप्रस्तुतप्रशंसा या सा सैव प्रस्तुताश्रया।
कार्ये निमित्ते सामान्ये विशेषे प्रस्तुतेऽति।

अप्रस्तुत की प्रशसा (कथन) में जहाँ प्रस्तुत के अर्थ की व्यंजना निकलती है, वहाँ अप्रस्तुत प्रशंसालंकार माना जाता है। 'कार्य-करण' सामान्य-विशेष तथा सादृश्य सम्बन्ध के कारण इसकी तीन स्थिति होती है

इन तीन सम्बन्धों के आधार पर इस अलंकार के पाँच भेद किये जाते हैं—

(1) जहाँ प्रस्तुत कार्य का बोध कराने अप्रस्तुत कारण रूप में हो (कारण निबन्धना)

(2) जहाँ प्रस्तुत कारण का बोध कराने के लिए अप्रस्तुत कार्य के रूप में हो (कार्य निबन्धना)

(3) जहाँ प्रस्तुत सामान्य का बोध अप्रस्तुत विशेष से कराया जाए (विशेष निबन्धना)

(4) जहाँ प्रस्तुत विशेष का बोध अप्रस्तुत सामान्य से कराया जाए (सामान्य निबन्धना)

(5) जहाँ प्रस्तुत तुल्य का बोध अप्रस्तुत तुल्यता से किया जाए—(सादृश्य निबन्धना) यथा—

मानस सलिल सुधा प्रतिपाली। जिअइ कि लवन पयोधि मराली।
नव रसाल बन बिहरन सीला। सोह कि कोकिल विपिन करीला।

यहाँ अप्रस्तुत—'कोकिल तथा मराली' को आधार बनाकर सादृश्य प्रस्तुत सीता की सुकुमारता' एवं 'कोमलता' का वर्णन कवि को अभीष्ट है।

'अन्योक्ति विधान' का सम्बन्ध इसी अलंकार से है।

समासोक्ति

आचार्य दण्डी ने समासोक्ति को इस प्रकार परिभाषित किया है—

वस्तु किंचित् अभिप्रेत्य तत्तुल्यस्यान्यवस्तुन।
उक्तिः संक्षेपरूपत्वात् सा समासोक्तिरिष्यते।

किसी वस्तु (अप्रस्तुत) को लक्ष्य करके, उसके सदृश्य अन्य वस्तु के प्रति संक्षिप्त कथन को समासोक्ति अलंकार कहा जाता है।

कविराज विश्वनाथ ने समासोक्ति को इस प्रकार परिभाषित किया है—

समासोक्तिः समैर्यत्र कार्यलिंगविशेषणैः।
व्यवहार समारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्यवस्तुना॥

समान रूप से अन्वित होने वाले कार्य, लिंग तथा विशेषण से प्रस्तुत में जहाँ अप्रस्तुत व्यवहार रूप में आरोपित हो, वहाँ समासोक्ति अलंकार बताया जाता है। यथा—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु नहिं विकास इहि काल।
अली कली ही सौं बिंध्यौ, आगे कौन हवाल।

यहाँ प्रस्तुत भ्रमर के कार्य से अप्रस्तुत कामुक पुरुष के कार्य की व्यंजना या व्यावहारिक समारोपण के कारण समासोक्ति अलंकार है।

अतिशयोक्ति

आचार्य दण्डी ने अतिशयोक्ति को इस प्रकार परिभाषित किया है—

विवक्षा या विशेषस्य लोकसीमातिवर्तिनी।
असावतिशयोक्तिः स्यादलंकारोत्तमा यथा।

लोक सीमा का उल्लंघन करके प्रस्तुत वस्तुगत उत्कर्ष के वर्णन की इच्छा, अलंकारों में उत्तम अतिशयोक्ति है।

वस्तुतः लोकसम्भावनाओं का अतिक्रमित वर्णन ही अतिशयोक्ति है।

आचार्य भामह ने इसे परिभाषित करते हुए बताया है कि—

किसी निमित्त विशेष से लोकोत्तर वचन का विधान ही अतिशयोक्ति है।

अतिशयोक्ति के भेदों की अनेक रूप में चर्चा की गई है। इनमें से निम्नलिखित 7 भेद अधिक प्रचलित हैं।

(1) रूपकातिशयोक्ति—भेद अभेद के संस्थापन की प्रवृत्ति को ध्यान में रखकर इस उपभेद का निरूपण किया गया है। उपमान-कथन के द्वारा लोक-सम्भावनाओं को अतिक्रमण करने वाला वर्णन प्रस्तुत किया जाए। यथा—

खंजन सुक कपोत मृग मीना। मधुप निकर कोकिला प्रवीना।

(2) सापह्नवातिशयोक्ति—जहाँ उपमेय के गोपन द्वारा लोकातिक्रान्त वर्णन प्रस्तुत किया जाए—यथा—

'अली कमल तेरे तनहिं, सर में कहत अयान'

यहाँ 'सरोवर' में कमल का निषेध करके शरीर में उसे आरोपित किया है।

(3) भेदकातिशयोक्ति—अभेद होने पर भी वर्णन में भेद प्रकट होने के कारण भेदकातिशयोक्ति होती है—

अनियारे दीरघ दृगनि, किती न तरुनि समान।
वह चितवनि औरै कछु, जेहि बस होत सुजान।

'औरै कछू' शब्द अभेद जापित करते हैं।

(4) सम्बन्धातिशयोक्ति—सम्बन्ध रहने पर भी युक्तिपूर्ण कथन द्वारा असम्बन्ध प्रकट करना सम्बन्धातिशयोक्ति है—

बिधि हरिहर कवि कोविद बानी। कहत साधु महिमा सकुचानी।

महिमा वर्णन में सभी समर्थ हैं किन्तु असामर्थ्य द्वारा यहाँ असम्बन्ध प्रकट किया गया है।

(5) चपलातिशयोक्ति—जहाँ हेतु की चर्चा तथा ज्ञान मात्र से कार्य की सिद्धि का वर्णन किया जाए, वहाँ चपलातिशयोक्ति अलंकार है—

तब सिव तीसर नैन उघारा। चितवन काम भयउ जरि छारा।

(6) अक्रमातिशयोक्ति—जहाँ पर कार्य-कारण एक साथ घटित दिखाया जाए, वहाँ अक्रम की स्थिति बतायी गई है।

सन्धानेउ प्रभु बिसिख कराला।
उठी उदधि उर अंतर ज्वाला।

(7) अत्यन्तातिशयोक्ति—जहाँ करण उपस्थित होने के पूर्व ही कार्य का सम्पन्न होना वर्णित किया जाए, वहाँ अत्यन्तातिशयोक्ति कही जाती है—

राजन राउर नाम जस, सब अभिमत दातार।
फल अनुगामी महिपमनि, मन अभिलाष तुम्हार।

पर्यायोक्ति

साहित्यदर्पणकार कविराज विश्वनाथ पर्यायोक्ति को परिभाषित करते हुए कहते हैं—

पर्यायोक्तं यदा भङ्गया गम्यमेवाभिधीयते।

अभीष्ट कथन का भंगिमापूर्ण कथन ही पर्यायोक्ति है। यथा—

सीताहरन तात जनि, कहहु पिता सन जाइ।
जौं मैं राम तु कुल सहित, कहहिं दसानन आइ।

'रावण वध' की प्रतिज्ञा को भंगिमा के साथ प्रकट करने के कारण यहाँ पर्यायोक्ति अलकार है।

विशेषोक्ति

आचार्य दण्डी इसे इस प्रकार परिभाषित करते है—

गुणजाति क्रियादीनां यत्तु वैकल्यदर्शनम्।
विशेषदर्शनायैव सा विशेषोक्तिरिच्यते।

प्रस्तुत की सामर्थ्य के कारण गुण; जाति, क्रिया आदि में कार्य सिद्धि की निष्फलता का प्रतिपादन ही विशेषोक्ति है।

कविराज विश्वनाथ ने निहित मन्तव्य को और अधिक स्पष्ट करते हुए बताया है—

'सतिहेतौ फलाभावो विशेषोक्ति स्तथा द्विधा'

हेतु के होते हुए भी जहाँ फल का अभाव दिखाई पड़े, उसे विशेषोक्ति कहते है। इसके दो भेदों की चर्चा की गई है, जहाँ कारण सहित फलाभाव बताया जाए

और दूसरा वह जहाँ फलाभाव का कोई कारण न बताया जा सके अर्थात् उक्त निमित्ता एवं अनुक्त निमित्ता विशेषोक्ति। यथा—

फूलइ फलइ न बेत, जदपि सुधा बरसहि जलद।
मूरख हृदय न चेत, जौ गुरु मिलइ विरंचि सम।

'जलद की सुधा वृष्टि के बाद भी बेन का न फूलना-फलना, और विरंचि सदृश्य गुरु के होने पर भी मूर्ख में बोध का न उत्पन्न होना' विशेषोक्तियुक्त कथन है।

विभावना

आचार्य दण्डी ने विभावना को इस प्रकार परिभाषित किया है—

प्रसिद्धहेतुव्यावृत्त्या यत्किंचित्कारणान्तरम्।
यत्र स्वाभाविकत्वं वा विभाव्यं सा विभावना।

प्रसिद्ध हेतु के अभाव में जिस किसी कारणान्तर या उसके स्वभावतः सिद्ध होने की विभावना कर लेना ही, विभावनालंकार है।

कविराज विश्वनाथ ने विभावना को इस प्रकार परिभाषित करते हैं—

'विभावना विनाहेतु कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते'

वे, हेतु के अभाव में जहाँ कार्योत्पत्ति वर्णित हो, उसे विभावना कहते हैं। इसके छः भेद किये गये

(1) प्रथम विभावना—जहाँ कारण के अस्तित्व के बिना कार्य की सिद्धि हो—

(2) द्वितीय विभावना—जहाँ अपूर्ण कारण से भी कार्य का पूर्ण होना वर्णित हो।

(3) तृतीय विभावना—जहाँ बाधक कारण होने पर कार्य की सिद्धि हो—

(4) चतुर्थ विभावना—जहाँ मूल कारण के स्थान पर दूसरे कारणों से कार्य की सिद्धि वर्णित हो

(5) पंचम विभावना—जहाँ विपरीत कार्य विरोधी कारण से कार्य सिद्धि वर्णित हो—

(6) षष्ठ विभावना—जहाँ कल्पित कारण से कार्य की सिद्धि वर्णित हो—

यथा—

बिनु पग चलै सुनै बिनु काना। कर बिनु कर्म करै विधि नाना।
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी।

बिना पैर के चलना, बिना कान के सुनना, हाथ के अभाव में सम्पूर्ण कर्मों को सम्पादित करना आदि विभावनापरक कथन हैं।

असगति

कविराज विश्वनाथ साहित्य दर्पण में इसे परिभाषित करते हुए बताते हैं—

'कार्यकारणयोर्भिन्न देशतायामसंगतिः'

कार्य तथा कारण का भिन्न-भिन्न स्थानों पर वर्णन ही असंगति है। वस्तुतः असंगति में कार्य-कारण का विरोध होता है। इसके तीन भेद किये जाते है—

(1) **प्रथम असंगति**—जहाँ कारण कही और कार्य कही और वर्णित हो—

(2) **द्वितीय असंगति**—अन्यत्र करणीय कार्य को अन्यत्र वर्णित किया जाए—

(3) तृतीय असंगति—इच्छित कार्य के विपरीत कार्य करते हुए वर्णन करना। यथा—

पलनि पीक अंजन अधर, धरे महावर भाल।
आज मिले सु भली करी, भले बने हो लाल।

पलको पर पीक होना (वस्तुत. पीक का स्थान अधर है), अजन का ओष्ठो पर होना, चरण मे लगने वाले महावर का माथे पर लगा होना, असंगति अलंकार है।

विरोधाभास

कुवलयानन्द में विरोधाभास को परिभाषित करते हुए बताया गया है—

'आभासत्वे विरोधस्य विरोधाभास इष्यते'

वस्तुतः विरोध न रहने पर विरोध का आभास ही विरोधाभास अलंकार होता है। जाति, गुण, क्रिया एव द्रव्य के आधार पर इसके आठ भेदों की चर्चा की गई है। यथा—

जाकी सहज स्वासि स्रुति चारी। सो हरि पढ़ कौतुक भारी।

ब्रह्म की सर्वज्ञता के सन्दर्भ में यह कथन विरोधी नही है किन्तु बाहर से विरोध दिखाई पड़ता है।

यथासंख्य (क्रम)

आचार्य दण्डी ने यथासंख्य अलंकार को इस प्रकार परिभाषित किया है—

उद्दिष्टानां पदार्थानामनूद्देशो यथाक्रमम्।
यथासंख्यमितिप्रोक्तं संख्यानं क्रम इत्यपि।

प्रारम्भ में कथित पदार्थों का संगतियुक्त क्रमबद्ध वर्णन ही यथासंख्य है। यथा—

मनि मानिक मुकुता छवि जैसी। अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी।

प्रारम्भ में वर्णित 'मणि, माणिक्य, मुक्ता' के मूल अधिष्ठान 'अहि, गिरि, गज' क्रमिक संगति में रखे गये हैं।

व्याजस्तुति

प्रारम्भिक आलंकारिकों ने व्याजस्तुति का अर्थ 'निन्दा से स्तुतिपरक वर्णन' दिया है। आगे चलकर आलंकारिकों ने स्पष्ट करते हुए बताया कि—जहाँ निन्दा के बहाने स्तुति और स्तुति के बहाने निन्दा वर्णित हो, उसे व्याजस्तुति अलंकार कहते हैं—

निन्दास्तुतिभ्यां वाचाभ्यां गम्यत्वे स्तुतिनिन्दयोः।

निन्दा के व्याज से स्तुति के व्याज से निन्दा के कथनों से यह दो रूपों में होता है। यथा—

बाउ कृपा मूरति अनुकूला। बोलत बचन झरत जनु फूला

'वाणी से फूल झड़ना' प्रशंसा से 'कटु वाणी कहना' निन्दापरक अर्थ व्यंजित हो रहा है।

प्रतिवस्तूपमा

कविराज विश्वनाथ ने इसे परिभाषित करते हुए बताया है—

प्रतिवस्तूपमा सा स्यात् वाक्योर्गम्य साम्ययोः।
एकोऽपि धर्मः सामान्यो यत्र निर्दिश्यते पृथक्।

जहाँ प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत वाक्य में एक धर्म के कारण साम्य वर्णित किया जाए, वहाँ प्रतिवस्तूपमलंकार होता है—

'नहिं असत्य सम पातक पुंजा। गिरि सम होहिं कि कोटिक गुंजा'

यहाँ प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत दोनों वाक्यों में सादृश्य प्रस्तुत किया गया है।

तुल्ययोगिता

'तुल्ययोग शब्द का अर्थ है, अनेक समान तत्त्वों उपमान या उपमेयों का संग्रह।' इन अनेक उपमानों या उपमेयों को एक धर्म से जोड़ना तुल्ययोगिता अलंकार है।

कविराज विश्वनाथ इसे परिभाषित करते हुए कहते हैं—

पदर्थानां प्रस्तुतानां अन्येषां वा यदाभवेत् ।
एकधर्माभिसम्बन्ध स्यात्तदा तुल्ययोगिता ।

उदाहरण—

सब कर संसय अरु अग्यानू । मंद महीपन्ह कर अभिमानू ।
भृगुपति केर गरब गरुआई । सुर मुनिबरन्ह केर कदराई ।
सिय कर सोच जनक पछितावा । रानिन्ह कर दारुन्ह दुख दावा ।
संभु चाप बोहित बड पाई । चढ़े जाइ सब संग बनाई ।

'चढ़े जाइ सब' क्रिया के द्वारा ऊपर के अनेक पदार्थों मे धर्मैक्य वर्णित है।

अर्थान्तरन्यास

जहाँ सामान्य कथन से विशेष का या विशेष कथन से सामान्य का समर्थन किया जाए वहाँ अर्थान्तरन्यास अलकार होता है।

आचार्य उद्भट अर्थान्तरन्यास को परिभाषित करते हुए कहते है—

जहाँ पहले समर्थक वाक्य का और उसके बाद उससे भिन्न समर्थ्य वाक्य का विन्यास किया जाए—

समर्थकस्य पूर्वं यद्वचोऽन्यस्य च पृष्ठतः ।
विपर्ययेण वा यत्स्यात् हि शब्दोक्त्याऽन्यथाऽपि वा ।

यथा— टेढ़ जानि वन्दउ सब काहू । वक्र चन्द्रमहि ग्रसै न राहू ।

द्वितीय वाक्य प्रथम वाक्य के समर्थन मे प्रयुक्त हुआ है।

तद्गुण

जहाँ वस्तु अपने गुण का परित्याग करके अन्य समीप स्थित वस्तु का गुण आत्मस्थ किए हुए वर्णित हो वहाँ तद्गुण अलंकार होता है—

अधर धरत हरि के परत, ओठ दीठि पट जोति ।
हरे बांस की बांसुरी, इन्द्र धनुष रंग होति ।

हरे बास की बाँसुरी का 'ओष्ठ, दृष्टि एवं पीताम्बर' के रंग को आत्मस्थ किए हुए चित्रित किया गया है।

अतद्गुण

जहाँ उत्कृष्ट गुण वाली समीपस्थ वस्तु को प्रभावित करने मे अक्षम वर्णित हो, वहाँ अतद् गुण अलकार होता है। यथा—

'तुलसी चन्दन बिटप बसि, विष नहिं तजत भुजंग'

यहाँ 'चन्दन' के समीपस्थ भुजंग का चन्दनगुण से न प्रभावित वर्णित होना अतद्गुण अलंकार है।

मीलित

काव्यप्रकाशकार मम्मट ने मीलित को इस प्रकार परिभाषित किया है—

समेन लक्षणावस्तु वस्तुना यन्निगूह्यते ।
निजेनागन्तुना वापि तन्मीलितमिति स्मृतम् ।

किसी वस्तु का दूसरी वस्तु के द्वारा स्वाभाविक या आगन्तुक चिह्न के द्वारा निगूहन वर्णित हो, उसे मीलित अलङ्कार कहते हैं। सामान्यतया समान गुण वाली वस्तु का वर्ण या गुण दूसरे में इस प्रकार मिले कि प्रथम वस्तु का अस्तित्व समाप्त होने लगे—

बरन बास सुकुमारता, सब बिधि रही समाय।
पांखुरी लगो गुलाब की, गाल न जानी जाय।

उन्मीलित

मीलित की स्थिति घटित हो जाने के बाद किसी विशिष्ट कारण से प्रथम एव द्वितीय वस्तु के गुणों एवं वर्णों का भिन्न प्रतीत वर्णित होना, उन्मीलित अलकार है। यथा—

मिलि चन्दन बेंदी रही, गोरे मुख न लखात।
ज्यों-ज्यों मद लाली चढ़ै, त्यों-त्यों उघटत जात।

गोरे मुख के स्वर्णिम वर्ण के साथ मिलकर चन्दन और बेंदी का परस्पर लोप एवं मद के कारण लालिमा उत्पन्न होने पर दोनों में भिन्नता की प्रतीति के वर्णन के कारण उन्मीलित अलंकार है।

परिसंख्या

अन्यत्र सम्भव वस्तु का निषेध करके एक स्थान विशेष पर उसके नियमन को परिसख्या अलकार कहा जाता है। यथा—

दण्ड जतिन कर भेद कहुँ, नर्तक नृत्य समाज।
जीतहुँ मनहि सुनिअ अस, रामचन्द्र के राज।

दण्ड (दण्ड: दण्डित किया जाना) केवल यतियो मे, भेद (साम, दाम, दण्ड, नृत्यगति भेद) केवल नर्तक समाज में, विजय केवल मन पर, (व्यक्ति एवं प्रदेशों पर नहीं) इस क्रम मे वर्णित किया जाना परिसंख्या है।

मुद्रा

वर्ण्य विषय मे अर्थान्तिर भंगिमा के साथ अन्य संज्ञार्थ की अप्रकारणिक व्यंजना का नाम मुद्रा अलंकार है। यथा—

पाण्डव की प्रतिमा सम देखौ। अर्जुन भीम महामति लेखौ

पंचवटी वर्णन मे 'वृक्षो' के प्राकरणिक अर्थ के साथ 'अर्जुन' एवं 'भीम' वीर योद्धाओ की व्यजना के कारण यहाँ मुद्रा अलंकार है।

लोकोक्ति

सादृश्य आदि की सिद्धि के लिए लोक मे वर्णित विविध मुहावरो एवं उक्तियो के दृष्टान्त को लोकोक्ति अलंकार कहा जाता है। आचार्य अप्पय दीक्षित ने बताया है—

लोकप्रवादानुकृतिर्लोकोक्तिरिति भण्यते

यथा—

इहाँ कुम्हड़ बतिया कोउ नाहीं। जे तरजनी देखि कुम्हिलाही।

लोकप्रवाद 'तरजनी के संकेत से कुम्हड़े की बतिया का सूख जाना' के कारण यहाँ लोकोक्ति अलंकार।

विनोक्ति

काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट विनोक्ति को इस प्रकार परिभाषित करते हैं—

विनोक्तिः सा विनाऽन्येन यत्रान्यः सन्नेतर :

किसी वस्तु का शोभन या अशोभन, बिना, हीन आदि के द्वारा जहाँ वर्णित किया जाए वहाँ विनोक्ति अलंकार होता है। यथा—

जिमि भानु बिनु दिन प्रान बिन तनु चंद बिनु जिमि चाँदनी।
तिमि अवध तुलसीदास प्रभु बिनु समुझि धौं जिय भामिनी।

यहाँ 'बिन' के अनेक प्रयोगो द्वारा 'अयोध्या' के तेजहीन का वर्णन, विनोक्ति अलंकार है।

सहोक्ति

सहवाची शब्दों के द्वारा जहाँ पर अनेक कार्य-व्यापरो मे एक धर्म का वर्णन किया जाएँ वहाँ सहोक्ति अलंकार होता है। यथा—

बलु प्रताप बीरता बड़ाई। नाक पिनाकहिं संग सिधाई।

'यहाँ बल, प्रताप, वीरता एवं बड़प्पन की प्रतिष्ठा का धनुष नष्ट होने के साथ-साथ, नष्ट होता जाना, सहोक्ति अलंकार सूचक है।

संकर

इसकी गणना आचार्यों ने 'उभयालंकार' के अन्तर्गत की है। दो से अधिक अलंकारों का 'नीरक्षीरन्याय' से मिश्रण को संकर अलंकार कहते हैं। दूसरे शब्दों में मिश्रित-अलंकार पृथक्-पृथक् नहीं दिखाई पड़ते हैं। यथा—

रावन सिर सरोज बन चारी। चलि रघुबीर सिलीमुख धारी।

'श्लेष एवं रूपक' दोनों यहाँ अंगांगि भाव से मिश्रित हैं और उनमें भिन्नता की प्रतीति कठिनाई से हो रही है। 'सिलीमुख' शब्द का अर्थ भ्रमर एवं बाण दोनों है।

संसृष्टि

यह भी उभयालंकार ही है। जहाँ अनेक अलंकारों का किसी काव्य वाक्य में सम्मिश्रण 'तिल-तण्डुल' न्याय से हो—अर्थात् मिश्रित अलंकार स्फुट तथा स्पष्ट रूप से गोचर हो, वहाँ संसृष्टि अलंकार कहा जाता है। यथा—

जोरि पंकरुह पानि सुहाये। बोले बचन प्रेम जनु जाये।
राम करौं केहि भाँति प्रसंसा। मुनि महेस मन मानस हंसा।

'पंकरुह पानि' के कारण उपमा, प्रेम जनु जाये के कारण उत्प्रेक्षा, 'मन-मानस हंसा' के कारण रूपक, ये तीनों मिश्रित अलंकार स्पष्ट रूप से प्रतीत हो रहे हैं।

परिकर

जहाँ किसी काव्य वाक्य में कोई विशेषण पद साभिप्राय नियोजित हो, उसे परिकर अलंकार कहते हैं। उदाहरणार्थ—

देत उतरु जनु कहहु कि नांही। सत्संयध तुम रघुकुल मांही।

यहाँ 'सत्य संध' शब्द का प्रयोग साभिप्राय विशेषण से उत्पन्न वैचित्र्य-विधान के लिए किया गया है।

परिकरांकुर

जहाँ विशेष्यपद किसी काव्य वाक्य में साभिप्राय नियोजित हो, उसे परि-करांकुर अलंकार कहते हैं। उदाहरणार्थ—

सुनहि विनय मम विटप असोका। सत्य नाम करु हरु मम सोका।

'असोका' शब्द का प्रयोग साभिप्राय शोक विमुक्त करने वाले अशोक वृक्ष के लिए किया गया है।

प्रमुख अलंकारों में वैषम्य

यमक तथा लाटानुप्रास—लाटानुप्रास से तात्पर्य भेद से शब्दो एवं पदों की आवृत्ति होती है, किन्तु यमक मे आवृत्ति शब्दार्थ से सम्बन्धित है ।

प्रतीप तथा व्यतिरेक—सिद्ध उपमान उपमेय के रूप मे स्वीकृत होता है किन्तु व्यतिरेक मे उपमान से उपमेय को अधिकता का वर्णन किया जाता है ।

भ्रान्तिमान तथा संदेह—सन्देह में प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत दोनो का कथन संदेहवाचक शब्दो के साथ होता है । अनेक अप्रस्तुतों में अनिश्चयता की स्थिति सन्देह तथा किसी भी प्रस्तुत के लिए भ्रमवश प्रस्तुत को ही वास्तविक मान लेना भ्रान्तिमान है ।

उदाहरण दृष्टान्त, निदर्शना एवं अर्थान्तरन्यास—ये चारों अलंकार एक ही कोटि के है । 'उदाहरण' मे जैसे, यथा शब्दो द्वारा अप्रस्तुत वाक्य प्रस्तुत वाक्य की समता सिद्धि का हेतु बनता है । दृष्टान्त के अन्तर्गत प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत वाक्य के बीच बिम्ब-प्रतिबिम्ब सम्बन्ध रहता है, यथा, जैसे आदि वाचकों का प्रयोग नही होता । में वस्तु मे सम्बन्ध के अभाव की स्थिति रहने पर भी समता की परिकल्पना करना निदर्शना है जे, ते, जैसे तैसे, वाचक के रूप में रहते हैं । अर्थान्तरन्यास के अन्तर्गत सामान्य वाक्य के समर्थन के लिए विशेष वाक्य का प्रयोग किया जाता है किन्तु दृष्टान्त, निदर्शना एवं उदाहरण में समता की स्थिति दिखाई पडती है ।

अप्रस्तुत प्रशंसा तथा समासोक्ति—अप्रस्तुत के वर्णन में जहाँ प्रस्तुत प्रयत्न-व्यंग्यपूर्वक हो, उसे अप्रस्तुत प्रशंसा कहा जाता है किन्तु समासोक्ति के अन्तर्गत प्रस्तुत के कथन मे अप्रस्तुत व्यग्य होता है ।

रूपक तथा अपह्नुति—अपह्नुति के अन्तर्गत प्रस्तुत का निषेध करके अप्रस्तुत को प्रतिष्ठित किया जाता है किन्तु, रूपक में प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत के बीच अभेद संस्थापना होती है ।

रूपकातिशयोक्ति और रूपक—रूपकातिशयोक्ति में रूपक तथा अतिशयोक्ति दोनों का सम्मिश्रण रहता है । केवल अप्रस्तुत का कथन करके प्रस्तुत को उसी में अध्यवसित मान लिया जाता है, यही नही कथित अप्रस्तुत लोकसम्भावनाओं का का अतिक्रमण किये रहता है किन्तु रूपक में केवल प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत के बीच अध्यवसान का ही धर्म निहित रहता है ।

उपमा और प्रतीप—लोक सिद्ध उपमान को उपमेय के रूप में स्वीकृत करना प्रतीप का धर्म है किन्तु उपमा के अन्तर्गत उपमेय के लिए उपमान को सादृश्य के आधार पर प्रस्तुत किया जाता है ।

संकर

इनकी गणना आचार्यों ने 'उभयालंकार' के अन्तर्गत की है। दो से अधिक अलंकारों का 'नीरक्षीरन्याय' से मिश्रण को संकर अलंकार कहते हैं। दूसरे शब्दों मे मिश्रित-अलंकार पृथक्-पृथक् नही दिखाई पड़ते हैं। यथा—

रावन सिर सरोज बन चारी। चलि रघुबीर सिलीमुख धारी।

'श्लेष एवं रूपक' दोनों यहाँ अभागि भाव से मिश्रित हैं और उनमें भिन्नता की प्रतीति कठिनाई से हो रही है। 'सिलीमुख' शब्द का अर्थ भ्रमर एवं बाण दोनों है।

संसृष्टि

यह भी उभयालंकार ही है। जहाँ अनेक अलंकारों का किसी काव्य वाक्य में सम्मिश्रण 'तिल-तण्डुल' न्याय से हो—अर्थात् मिश्रित अलंकार स्फुट तथा स्पष्ट रूप से गोचर हों, वहाँ संसृष्टि अलंकार कहा जाता है। यथा—

जोरि पंकरुह पानि सुहाये। बोले बचन प्रेम जनु छाये।
राम करौं केहि भाँति प्रसंसा। मुनि महेस मन मानस हंसा।

'पंकरुह पानि' के कारण उपमा, प्रेम जनु छाये के कारण उत्प्रेक्षा, 'मन-मानस हंसा' के कारण रूपक, ये तीनों मिश्रित अलंकार स्पष्ट रूप से प्रतीत हो रहे हैं।

परिकर

जहाँ किसी काव्य वाक्य में कोई विशेषण पद साभिप्राय नियोजित हो, उसे परिकर अलंकार कहते हैं। उदाहरणार्थ—

देत उतरु अनु कहहु कि नांही। सत्संयंध तुम रघुकुल मांही।

यहाँ 'सत्य संघ' शब्द का प्रयोग साभिप्राय विशेषण से उत्पन्न वैचित्र्य-विधान के लिए किया गया है।

परिकरांकुर

जहाँ विशेष्यपद किसी काव्य वाक्य में साभिप्राय नियोजित हो, उसे परि-करांकुर अलंकार कहते हैं। उदाहरणार्थ—

सुनहि विनय मय विटप असोका। सत्य नाम करु हरु मम सोका।

'असोका' शब्द का प्रयोग साभिप्राय शोक विमुक्त करने वाले अशोक वृक्ष के लिए किया गया है।

प्रमुख अलंकारों में वैषम्य

यमक तथा लाटानुप्रास—लाटानुप्रास से तात्पर्य भेद से शब्दो एवं पदो की आवृत्ति होती है, किन्तु यमक में आवृत्ति शब्दार्थ से सम्बन्धित है।

प्रतीप तथा व्यतिरेक—सिद्ध उपमान उपमेय के रूप में स्वीकृत होता है किन्तु व्यतिरेक मे उपमान से उपमेय की अधिकता का वर्णन किया जाता है।

भ्रान्तिमान तथा संदेह—सन्देह में प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत दोनों का कथन संदेहवाचक शब्दो के साथ होता है। अनेक अप्रस्तुतों में अनिश्चयता की स्थिति सन्देह तथा किसी भी प्रस्तुत के लिए भ्रमवश प्रस्तुत को ही वास्तविक मान लेना भ्रान्तिमान है।

उदाहरण दृष्टान्त, निदर्शना एवं अर्थान्तरन्यास—ये चारो अलंकार एक ही कोटि के है। 'उदाहरण' मे जैसे, यथा शब्दों द्वारा अप्रस्तुत वाक्य प्रस्तुत वाक्य की समता सिद्धि का हेतु बनता है। दृष्टान्त के अन्तर्गत प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत वाक्य के बीच बिम्ब-प्रतिबिम्ब सम्बन्ध रहता है, यथा, जैसे आदि वाचको का प्रयोग नहीं होता। मे वस्तु में सम्बन्ध के अभाव की स्थिति रहने पर भी समता की परिकल्पना करना निदर्शना है जे, ते, जैसे तैसे, वाचक के रूप में रहते हैं। अर्थान्तरन्यास के अन्तर्गत सामान्य वाक्य के समर्थन के लिए विशेष वाक्य का प्रयोग किया जाता है किन्तु दृष्टान्त, निदर्शना एवं उदाहरण मे समता की स्थिति दिखाई पड़ती है।

अप्रस्तुत प्रशंसा तथा समासोक्ति—अप्रस्तुत के वर्णन में जहाँ प्रस्तुत प्रयत्न-व्यंग्यपूर्वक हो, उसे अप्रस्तुत प्रशंसा कहा जाता है किन्तु समासोक्ति के अन्तर्गत प्रस्तुत के कथन मे अप्रस्तुत व्यंग्य होता है।

रूपक तथा अपह्नुति—अपह्नुति के अन्तर्गत प्रस्तुत का निषेध करके अप्रस्तुत को प्रतिष्ठित किया जाता है किन्तु, रूपक में प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत के बीच अभेद संस्थापना होती है।

रूपकातिशयोक्ति और रूपक—रूपकातिशयोक्ति में रूपक तथा अतिशयोक्ति दोनों का सम्मिश्रण रहता है। केवल अप्रस्तुत का कथन करके प्रस्तुत को उसी में अध्यवसित मान लिया जाता है, यही नही कथित अप्रस्तुत लोकसम्भावनाओं का का अतिक्रमण किये रहता है किन्तु रूपक मे केवल प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत के बीच अध्यवसान का ही धर्म निहित रहता है।

उपमा और प्रतीप—लोक सिद्ध उपमान को उपमेय के रूप में स्वीकृत करना प्रतीप का धर्म है किन्तु उपमा के अन्तर्गत उपमेय के लिए उपमान को सादृश्य के आधार पर प्रस्तुत किया जाता है।

उपमा एवं प्रतिवस्तूपमा—उपमा का सम्बन्ध शब्द या पद से है किन्तु प्रतिवस्तूपमा के अन्तर्गत सादृश्य को केन्द्र में रखकर उपमा साम्य के लिए उपमान वाक्य का प्रयोग किया जाता है।

विशेषोक्ति और विभावना—पर्याप्त हेतुओं के बाद भी कार्य सिद्धि न वर्णित किया जाए वहाँ विशेषोक्ति एवं बिना कारण के कार्य की सिद्धि का वर्णन विभावना है।

तुल्ययोगिता और सहोक्ति—अनेक समान तत्त्व वाले उपमानों का संग्रह ही तुल्ययोगिता है किन्तु सहोक्ति के अन्तर्गत सहवाची शब्दों के द्वारा अनेक उपमान व्यापारों के बीच एक धर्म की प्रतिष्ठा की जाती है।

7
रस

रस की परिभाषा

रस व्यापार का सम्बन्ध भाव से है। भाव ही रसत्व को प्राप्त होते हैं। सामान्यतया काव्य के पढ़ने, नाटकादि के देखने एवं कथाओं के श्रवणादि से मन को जो आनन्द प्राप्त होता है, वही रस है। शास्त्रकारों ने इसे अनेक रूपों में परिभाषित किया है। वस्तुत: रस से सम्बन्धित सम्पूर्ण तत्त्वों के दो पक्ष हैं—

(1) कृति
(2) पाठक

(1) कृति—रस की दृष्टि से कृति या रचना का अर्थ उसके पुस्तकाकार होने में नहीं है। कृति का अर्थ है उसमें प्रतिपादित विषय वस्तु अर्थात् कल्पना, काव्यभाषा तथा कवि के अनुभव द्वारा रचित कृति का पाठ एवं विषय। इस विषय को रस की दृष्टि से तीन भागों में विभक्त किया जाता है—

(क) विभाव
(ख) अनुभाव
(ग) संचारी भाव

उदाहरणार्थ, यदि प्रबन्ध-काव्य की कृति के रूप में प्रस्तुति होती है—तो उसमें नायक-नायिकाएँ, उनके कार्य-व्यापार उनसे सम्बन्धित भाव विशेष तथा उनको प्रेरित करने वाले अनेक भाव विभावादि के रूप में स्वीकृत होते हैं।

(2) **पाठक**—पाठक को संस्कृत साहित्य में रसज्ञ, भावक या सहृदय कहा गया है। इसके विषय में कहा जाता है कि निरन्तर काव्य के अध्ययन अनुशीलन से जिसकी प्रज्ञाशक्ति (समझ) अत्यधिक विकसित हो, दूसरे शब्दों में काव्यार्थ को सही-सही समझने वाला, काव्य में अर्थ बोध से सम्बन्धित अवान्तर प्रसंगों एवं शास्त्रों का ज्ञाता, प्रकृत तथा सरस वृत्ति प्रधान व्यक्ति ही सहृदय या पाठक

है। पाठक की सरसवृत्ति एवं प्रवृत्त होने का अर्थ यह है कि सामान्य मानव की भाँति उसके हृदय में सनातन रूप से वर्तमान वासनाएँ (यथा : रति, उत्साह, क्रोध, हासादि) के उत्पन्न होने में कहीं-भी नैसर्गिक अवरोध न उत्पन्न हो। वह उन्माद-ग्रस्त विक्षिप्त एवं सन्यासी जैसा न हो।

इस प्रकार के पाठक का मन कृति में कल्पित विभाव, अनुभाव एवं संचारी-भाव के सम्पर्क में आकर जिस भाव से आह्लादित होता है, उसे ही रस की संज्ञा दी जाती है। आचार्य अभिनव गुप्त ने रस को परिभाषित करते हुए बताया है—

सर्वथा रसनात्मक वीतविघ्न प्रतीतिग्राह्यो भाव एव रस

अर्थात्, सब प्रकार से रसनात्मक वीतविघ्न एवं प्रतीतिग्राह्य भाव ही रस है।

यहाँ सब प्रकार से रसनात्मक का अर्थ है विभाव, अनुभाव एवं संचारि आदि भावों का परिपक्व होकर कृति विशेष में व्यक्त होना।

'वीतविघ्न' का अर्थ है, पाठक के मन का सब प्रकार से रस प्रतीति कराने वाले विघ्नों से मुक्त होना है। शास्त्र के अन्तर्गत विघ्नों की संख्या सात बताई गई है—

(1) प्रतीति के अयोग्य होना
(2) पाठक का काव्य-पाठ आदि के क्षण अपने भावों में आविष्ट होना
(3) पात्रादि की वास्तविकता का बोध
(4) निज सुख-दुख आदि का आवेश
(5) रस निष्पत्ति कराने वाले साधनों में अक्षमता
(6) रस निष्पत्ति कराने वाले साधनों में अक्षमता
(7) भावादि के विषय में निरन्तर संशय का बना रहना

इस प्रकार की स्थितियाँ काव्यादि में रस प्रतीति में बाधा उत्पन्न करती हैं। उदाहरणार्थ—एक पुत्र शोक से विह्वल व्यक्ति को बिहारी-सतसई का पाठ करने के लिए दे दिया जाय तो उसका मन सतसई के शृंगारादि से कभी भी नहीं आस्वादित होगा। इस प्रकार काव्यादि में अभिव्यक्ति विभाव, अनुभाव एवं संचारी भाव वीतविघ्न सहृदय के मन से सम्पर्कित होकर जिस आस्वादन का अनुभव करते हैं, वह रस है।

आचार्य भरत के रससूत्र की व्याख्या

आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र के छठें अध्याय में एक सूत्र रखा है—"विभावानुभाव-व्यभिचारि संयोगाद्रस निष्पत्तिः" जिसका अर्थ है विभाव, अनुभाव, संचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि इस सूत्र में स्थायीभाव का उल्लेख नहीं है। वह इसलिए नहीं है कि स्थायीभाव कारण

नही है। वह रस दशा की पूर्वावस्था है अतः रस निष्पत्ति के लिए [illegible] होना आवश्यक है। स्थायीभाव ही रसत्व को प्राप्त होते हैं। [illegible] उल्लेखनीय तथ्य यह है कि विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भाव [illegible] कवि कल्पना द्वारा नियोजित रहते हैं किन्तु स्थायीभाव [illegible] सहृदय के हृदय में सनातन वासना के रूप में वर्तमान [illegible] करते है। इसलिए आचार्य भरत के इस सूत्र में [illegible] है। इस सूत्र में दूसरी महत्त्वपूर्ण समस्या यह है कि विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव का स्थायी भाव से क्या सम्बन्ध है [illegible] अनेक विद्वान् अपने ढंग से इसका अर्थ करते हैं [illegible] स्पष्ट नही है। उसका अपने ढंग से अर्थ लगाया जाता है [illegible] विशिष्ट अर्थ आचार्य भरत द्वारा निर्दिष्ट नहीं है। [illegible] निष्पत्ति है। निष्पत्ति का क्या अर्थ होगा, यह भी स्पष्ट नहीं है क्योंकि इस सूत्र मे प्रयुक्त होने वाले रस निष्पत्ति शब्द का [illegible] होता है? इसका भी उल्लेख इस सूत्र मे नहीं किया गया है। इन बातों को स्पष्ट करने के लिए परम्परा में आचार्य भट्ट लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक, अभिनवगुप्त आदि विद्वानो ने जो व्याख्या की है, उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

आचार्य भट्ट लोल्लट—आचार्य भट्ट लोल्लट के [illegible] वाद कहा जाता है। विभावानुभाव संचारि भाव एवं स्थायीभाव [illegible] कारण सम्बन्ध है, इस प्रकार विभावादि कारणों से स्थायीभाव [illegible] रस की उत्पत्ति होती है। इनके अनुसार "संयोग" का अर्थ [illegible] है, [illegible] संयोग शब्द का अर्थ है—परिपुष्ट किया जाना। परिपुष्ट स्थायीभाव से ही रस की उत्पत्ति होती है। इनके अनुसार व्यभिचारि भाव एवं रस [illegible] सम्बन्ध है। रस की उत्पत्ति ऐतिहासिक पात्र में होती है। आचार्य भट्ट लोल्लट के मत को परवर्ती आचार्यों ने स्वीकार नहीं किया क्योंकि [illegible] रस की उत्पत्ति ही सम्भव है और न वह ऐतिहासिक पात्र में होता है। [illegible] व्यापार है, जो उत्पन्न न होकर अनुभूत होता है और इसके अनुभव का [illegible] पाठक है।

आचार्य शंकुक—आचार्य शंकुक के मत को अनुमितिवाद [illegible] उन्होंने "संयोग" का अर्थ अनुमान किया है और [illegible] उनके अनुसार विभावानुभाव व्यभिचारिभाव के संयोग से रस की अनुमिति होती है। अपने इस कथन को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने "चित्रतुरगन्याय" का आश्रय ग्रहण किया है। जैसे चित्र में बनाया गया "अश्व" [illegible] है अपितु चित्र की प्रतिकृति मात्र है। वह न मिथ्या है अर्थात् [illegible]

भी नहीं कहा जा सकता अर्थात् वह अश्व का ही चित्र है यह संशयात्मक है, यह भी नहीं कहा जा सकता। और वह सत्य तथा मिथ्या दोनों है, यह भी नहीं कहा जा सकता अर्थात् जिस प्रकार चित्र में बना हुआ तुरग (अश्व) न सत्य है, न मिथ्या है, न सशयात्मक है और न उभयात्मक प्रतीति का है उसी प्रकार अभिनयकाल में मंच पर उपस्थित राम (नट) न सत्य है, न असत्य है, न उभयात्मक है और न संशयात्मक है। इन स्थितियों के बाद आचार्य शंकुक ने 'साहचर्य सम्बन्ध' की कल्पना की है। दर्शक बार-बार नट रूप में आने के कारण नट को साहचर्य सम्बन्ध के कारण राम मानकर रसास्वादन करने लगता है। आचार्य शंकुक के अनुसार मूल स्थिति नट में है और साहचर्य सम्बन्ध के कारण नट को राम समझता हुआ दर्शक भी रसास्वादन कर लेता है। इस प्रकार विभाव, अनुभाव, संचारी भाव के अनुमान रूप साहचर्य सम्बन्ध के कारण रस की अनुमिति होती है।

परवर्ती आचार्यों ने इस अनुमिति सिद्धान्त को नहीं माना है क्योंकि अनुमिति सिद्धान्त के अनुसार रस की मूल निष्पत्ति नट में होती है और फिर साहचर्य सम्बन्ध से दर्शक में यह सिद्धान्त इसलिए संगत नहीं है क्योंकि रस मूलतः दर्शक में ही निष्पन्न होता है। वह दर्शक का साक्षात् आस्वादन है, वह आस्वादन का अनुमान मात्र नहीं है। रस अनुमिति नहीं, अभिव्यक्ति है। रस की अनुमिति सम्भव ही नहीं है।

आचार्य भट्टनायक—आचार्य भट्टनायक के सिद्धान्त को भोगवाद कहा जाता है। उनके अनुसार सहृदय द्वारा विभावादि के भोग से रस की भुक्ति होती है। रस पाठक द्वारा भोगीकृत होता है और इस प्रकार निष्पत्ति का अर्थ भुक्ति है। भरत के इस सूत्र का मर्म अर्थ भट्टनायक ने इस प्रकार समझाया है। उनके अनुसार रस निष्पत्ति की प्रक्रिया की तीन स्थितियाँ हैं—(1) अभिधा, (2) भावकत्व, (3) भोजकत्व।

अभिधा शब्द शक्ति नहीं है। इसका अर्थ है, कलात्मक सन्दर्भयुक्त काव्य की समझ। अभिनय प्रकरण में अभिनय के कायिक, वाचिक, सात्त्विक तथा आहार्य आदि की पूरी तरह से समझ। इन वैशिष्ट्यों से युक्त जब पाठक या दर्शक काव्य या नाटक के सम्पर्क में आता है धीरे-धीरे उसकी अपनी वैयक्तिकता समाप्त होती जाती है। सांख्य दर्शन का आधार ग्रहण करते हुए उन्होंने बताया है—अज्ञान आदि प्रपंचों से मुक्त तम एवं राजस के अनुरोध से दर्शक या पाठक का हृदय तादात्म्य की स्थिति तक पहुँचता है। इस तादात्म्य को उन्होंने साधारणीकरण का नाम दिया है। इस द्वितीय साधारणीकरण की दशा में भावकत्व व्यापार अपनी पूर्ण पराकाष्ठा पर स्थित रहता है। यह साधारणीकरण भावना व्यापार है। इस भावना व्यापार का भोगीकृत रूप ही रस है। इस प्रकार, अभिधा भावकत्व एवं भोगकत्व व्यापार द्वारा रस का भोग किया जाता है। निष्पत्ति का अर्थ है, भाव व्यापार का

भोग। इस भोग व्यापार के पूर्व साधारणीकरण व्यापार के अन्तर्गत कृति मे जो देशकालादि विशिष्ट है, उसका सर्वसामान्यीकृत हो जाता है। वह न विशिष्ट पात्र तक सीमित रहता है, न कवि तक और न एक पाठक या दर्शक तक। वह देश, काल, पात्र विरहित होकर सर्वसाधारण का विषय बनकर सर्वसाधारणीकृत हो जाता है। साधारणीकरण ही भोग (रसास्वादन) का हेतु है। भट्टनायक के अनुसार साधारणीयकरण कारण है, रस का आस्वादन भोग।

अभिनवगुप्त—रस सिद्धान्त के इस सूत्र को आचार्य अभिनवगुप्त ने दूसरी तरह से समझाया है। उनके अनुसार विभानुभाव सचारि व्यंजना व्यापार है। "सयोग" का अर्थ व्यंजना व्यापार है। निष्पत्ति का अर्थ अभिव्यक्ति है। भरत सूत्र का अर्थ है—विभावानुभावव्यभिचारिभाव की व्यंग्यजना से रस की अभिव्यक्ति होती है। रस निष्पत्ति के लिए उनके अनुसार दो शर्तें है—

(1) रस निष्पत्ति सहृदय में होती है, सहृदय के हृदय का अर्थ है—काव्य के निरन्तर अध्ययन अनुशीलन तथा अभ्यास से जिसकी प्रज्ञा दर्पण की भाँति निर्मल है और काव्य रचना के मर्म को जो सहज ही हृदयगम कर लेता है, वही रसास्वादन का मूल प्रमाण है।

(2) रस-निष्पत्ति के लिए दूसरी अनिवार्यता है वीतविघ्नता। इस वीतविघ्नता का अर्थ है—सहृदय के मन का वैयक्तिक राग, द्वेष, हर्ष, विषाद, मात्सर्य आदि भावो से मुक्त रहना। सहृदय का मन यदि किसी भावात्मक द्वन्द्व या क्लेश से दूषित रहेगा तो रस निष्पत्ति सम्भव नही है। इस प्रकार सहृनय के मन की तटस्थता रस निष्पत्ति का दूसरा प्रमाण है।

आचार्य अभिनवगुप्त ने बताया है कि तटस्थ सहृदय ज्यो ही काव्य के सम्पर्क मे आता है, उसका मन वाक्यार्थ की प्रतीति करने लगता है। वाक्यादि की प्रतीति के पश्चात् ही वह देश काल पात्रादि विरहित होने लगता है और धीरे-धीरे उसकी अपनी और कृति की अपनी विशिष्टता समाप्त होने लगती है। इस प्रकार न तो कृति की विशिष्टता कृति में रह जाती है और न पाठक की विशिष्टता पाठक मे। दोनों अन्ततया एकमेव होकर पाठक में स्थित सनातन वासना रूप रति आदि तटस्थास्थयीभाव को जागृत करते हैं। रति भाव का जागरण ही साधारणीकरण है और वही रस है। साधारणीकरण की दशा मे न तो कृति की विशिष्टता शेष रहती है और न सहृदय पाठक की वैयक्तिकता निर्विशेत्व का धर्म ही साधारणीकृत करता है। भट्ट नायक ने साधरणीकरण को रसास्वादन का हेतु माना है किन्तु अभिनवगुप्त साधारणीकरण को ही आनन्दस्वरूप रसास्वादन दशा मानते है।

इस प्रकार आचार्य अभिनवगुप्त निर्विशेष दशा मे अपने ही तटस्थ रत्यादि स्थायीभाव की अभिव्यक्ति ही रस मानते है। आचार्य भरत के रस सूत्र के ये चौथे व्याख्याकार हैं। इन्होने साधारणीकरण को ही रस निष्पत्ति की संज्ञा दी है।

इस तरह भरत के सूत्र के ये चार व्याख्याकार अपने-अपने ढंग से उसकी व्याख्या करते हैं, जिनमें आचार्य अभिनवगुप्त का मत सर्वथा प्रामाणिक है।

साधारणीकरण

साधारणीकरण शब्द के विषय में आधुनिक हिन्दी साहित्य मे विशेष विवाद रहा है जैसे कि पूर्व मे निर्दिष्ट किया जा चुका है। आचार्य भट्ट नायक ने इस शब्द का प्रयोग पाठक की चित्त दशा के लिए किया है। वह चित्त दशा निर्विशेषत्व की है। इसी प्रकार की व्याख्या आचार्य अभिनवगुप्त ने भी की है। उनके अनुसार कृति एवं वैयक्तिक राग द्वेष से निर्विशेषत्व को प्राप्त सहृदय पाठक की सनातन वासना साधारणीकृत होकर अभिव्यक्त होती है। आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार साधारणीकरण का अर्थ है—स्थायीभाव की निर्विशेषता। हिन्दी साहित्य मे इस शब्द का प्रयोग अनेक रूपो में हुआ है और प्राय. इस सम्बन्ध मे विद्वानों के तीन वर्ग है—

(1) प्रारम्भिक पीढ़ी के विवेचक पं० रामदहिन मिश्र, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आदि है। इनके अनुसार साधारणीकरण का सम्बन्ध विभावादि से है। दूसरे वर्ग के आलोचक डॉ० नगेन्द्र, डॉ० निर्मला जैन आदि है, ये परम्परागत विवेचको तथा भट्टनायक एवं अभिनवगुप्त की मान्यताओं के प्रकाश मे साधारणीकरण का विवेचन करते है। तीसरे वर्ग के वे आलोचक हैं, जो उसकी तुलना सौन्दर्यानुभूति के आस्वादन या आधुनिक मनोविज्ञान के सापेक्ष्य में करते हैं। डॉ० राघवन, डॉ० छैल बिहारी गुप्त राकेश आदि इस वर्ग के अन्तर्गत आते हैं।

हिन्दी साहित्य मे साधारणीकरण से सम्बन्धित अनेक प्रश्न उठाये गए हैं? पहला प्रश्न है कि साधारणीकरण किसका होता है? आचार्य शुक्ल ने विभावादि की शीलदशा के साधारणीकरण की बात कही है? किसी ने कहा है, कवि भावनाओं का साधारणीकरण होता है। किसी के मत के अनुसार स्थाभाव का साधारणीकरण होता है, किसी ने यह माना है कि आलम्बन या आश्रय का साधारणीकरण होता है और किसी-किसी के अनुसार विभावादि का साधारणीकरण होता है। हिन्दी साहित्य मे उभकर आए विवाद इन्हीं बिन्दुओ से सम्बद्ध है।

आचार्य शुक्ल आलम्बनत्व के धर्म प्रकारान्तर से विभावादि की शील दशा का साधारीकरण मानते हैं। यह मत स्वीकार्य नहीं है। काव्य रचना में भावना व्यापार के अतिरिक्त रचना व्यापार भी साधारणीकरण से जुड़ते हैं। केवल विषय-वस्तु ही साधारणीकृति नहीं होती। सम्पूर्ण कृति का परिपक्व भावयोग ही मन को निर्विशेषत्व की दशा तक पहुँचाता है। स्थायीभाव स्वयं साधारणीकृत होते हैं, और इसका सम्बन्ध मात्र पाठक की चित्त दशा से है, कवि का विशेषत्व भी की दशा में को प्राप्त होता है जो पाठक या सहृदय के

स्थायीभाव से भिन्न है। अतः यह कहना कि स्थायीभाव साधारणीकृत होते हैं, सत्य नही है। कवि के समग्र भाव-व्यापार का साधारणीकरण होता है, यह एक विचारणीय तथ्य है। जैसा कि कहा गया है कि कृति मे निहित भाव व्यापार शुष्क काष्ठ की भाँति कृति मे स्थित रहते है, जबकि हृदय की वासना, रूप, अग्नि का सम्पर्क उनसे नही होगा, साधारणीकरण रूप अभिज्वलन कहाँ ? विभावानुभाव या आश्रय के साधारणीकरण की चर्चा करना निरर्थक है क्योकि ये सभी रचनाकार द्वारा कल्पित कृति भाव व्यापार हैं। ये कृति तक ही सीमित है। उनकी अभिव्यक्ति का प्रकाश पाठक के हृदय का सम्पर्क है। इस प्रकार, साधारणीकरण न कविभाव का होता है, विभाव की शील दशा का न आश्रय का, न स्थायीभाव का, मूलत यह एक विशिष्ट मनोविज्ञान है। इस मनोविज्ञान का सम्बन्ध सहृदय की आस्वादन प्रवृत्ति से है। सहृदय जब-जब किसी कृति के सम्पर्क मे आता है, उसकी यह प्रवृत्ति बन जाती है कि वह चित्तदशा से साधारणीकृत हो। कृति की कलात्मक विलक्षता की यह अपनी प्रवृत्ति है कि उसके संसर्ग मे आते ही मन को निर्विशेषत्व की भूमिका पर ले जाकर उसे आस्वादनधर्मिता से जोड देगा। सहृदय मन का इस प्रकार जुड जाना उसकी अपनी मजबूरी है। कला एवं काव्य कला का अपना नैसगिक स्वभाव है कि यदि सहृदय उसके सम्पर्क में आता है तो साधारणीकृत दशा उसकी अपनी मजबूरी है। यह पाठक का मनोविज्ञान है। यह उसी की नैसर्गिक वृत्ति है, जैसे पृथ्वी पर पहली बौछार पड़ी नही कि पृथ्वी के हृदय से सोंधी गंध बरबस फूट पडती है। मूलतः साधारणीकरण पाठक के उस मनोविज्ञान से सम्बद्ध है जहाँ वह कला या काव्य कला के ससर्ग मे आने पर तमन्यीभूतता की दशा में पहुँच जाता है। आचार्य भट्टनायक एवं अभिनवगुप्त ने अपने विशिष्ट सिद्धान्तो के माध्यम से यही समझाया है। कला के सम्पर्क मे आने पर मानव मन की विवशीभूतता इस सन्दर्भ में कि उसके मन को आस्वादित होने के अतिरिक्त और कोई विकल्प शेष नही रह जाता। यही साधारणीकरण की भोगीकृत दशा है और यही आचार्य अभिनवगुप्त की तटस्थता एव निर्विषकेत्व। यही साधारणीकरण के लिए आधार है।

रस के अवयव—विभाव, अनुभाव एवं संचारीभाव को ही रस का अवयव कहा जाता है। इसके अन्तर्गत स्थायीभाव का उल्लेख नही किया जाता है क्योकि इनका सम्पर्क स्थायीभाव से होता है, स्थायीभाव मानव मन मे स्थित अनादि वासना के रूप है, और वह अनादि वासना ही अपने को रस के रूप में व्यक्त करती है, वही रस है, वही रस की बीजात्मा है। इसलिए इसे रस के अवयव से भिन्न रस रूप में ही स्वीकार किया जाता है।

जैसा कि ऊपर निर्दिष्ट किया जा चुका है, विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव ही रस के अवयव हैं। मूलतः किसी काव्य में वर्णित भाव व्यापार को सुगमता-

पूर्वक समझने तथा स्पष्टतः व्याख्यायित करने के निमित्त उन्हें तीन भागों मे विभक्त किया गया है । विभाव, अनुभाव एवं सचारीभाव का मूलाधार भाव है । यह 'भाव' आधुनिक युग मे फीलिंग (Feeling) का पर्यायवाची नहीं है । इसका सम्बन्ध कवि कल्पना से है । उदाहरणार्थ रामचरितमानस मे कवि कल्पना के द्वारा एक कथा का निर्माण स्वदृष्टिकोण के अनुसार करता है । उसके राम, उसकी सीता अनेक सम्बन्धित विविध प्रकार की घटनाएँ एवं उन घटनाओ से सम्बद्ध सुख-दुःखादि रूप अनेक भाव-व्यापक कवि कल्पना प्रसूत हैं । कवि कल्पना प्रसूत काव्य के वर्ण्यवस्तु से सम्बद्ध सुख-दुःखादि रूप भाव ही रस में स्वीकृत 'भाव-व्यापार' हैं । आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र में भाव विवेचन करते समय सबसे पहले इसी तथ्य को स्पष्ट करने की चेष्टा की है—

कि भवन्ति इति भावा, कि भावयन्ति इति भावा ।
उच्यते वागंग सत्त्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयन्ति इति भावा ।

क्या लोक में घटित होने वाले भाव है, या जो (काव्यादि) मे भावित होते हैं, वे भाव है । नाटकादि में वाणी व्यापार, अग सचालन तथा सात्विक अनुभावो से संयुक्त भाव के रूप में भावित होने वाले भाव-व्यापार ही भाव कहे गए है । कवि एवं नाटककार जिन प्राकृत गाथाओ को आधार बनाकर प्रस्तुत करते हैं, उनसे सम्बद्ध भाव काव्य के अन्तर्गत विभाव के रूप मे पाठक के समक्ष आते हैं । इनका सम्बन्ध लोकभाव से है किन्तु घटना व्यापार उनकी कल्पना शक्ति से रचा जाता ।

विभाव—कवि द्वारा कल्पित किसी कथात्मक काव्य मे नायक-नायिका ही विभाव है । इनका सम्बन्ध मूल कथा के आधार से है । कथाविहीन काव्य में 'वर्ण्यविषय' के मूलाधार को विभाव कह सकते है । आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र मे विभाव को स्पष्ट करते हुए कहा है—

'विभावैराहृतो योऽर्थो'

अर्थात् अर्थ-प्रतीति का मूलकारण' ही विभाव हैं । बाद में, कथाकाव्य तथा नाटकादि को ध्यान में रखकर इसे इस प्रकार परिभाषित करने की चेष्टा की गई—

विभावैर्ललनोद्यानादिभिरालम्बनोद्दीपनरूपै-र्बाह्यैः हेतुभिः'

'विभाव अर्थात् ललना तथा उद्यान आदि आलम्बन तथा उद्दीपन विभाव रूप बाह्य हेतुओं द्वारा' दूसरे शब्दो में नायक, नायिका, उद्यानादि विभाव के उदाहरण उसके पर्याय से बनते गए । कविराज विश्वनाथ विभाव को परिभाषित करते हुए कहते हैं

रत्यादियुद्बोधका लोके विभावा काव्यानाट्ययो ।
आलम्बनोद्दीपनाख्यौ तस्यभेदावुभौ स्मृतौं ।

लोक मे रत्यादि के उद्बोधक काव्य एवं नाट्य में विभाव के रूप में स्वीकृत होते हैं । इनके दो भेद है,

(1) आलम्बन विभाव

(2) उद्दीपन विभाव

(1) **आलम्बन**—भाव एवं रस के मूल हेतु को आलम्बन कहा जाता है। नायक-नायिका को आलम्बन की श्रेणी में रखा जाता है। आचार्यों ने इसको दो भागों में विभक्त किया है—

(क) विषम

(ख) आश्रय

शृंगारादिभावों के सन्दर्भ में जिसके द्वारा भाव व्यापार प्रेरित हो वह विषय है और जिसके हृदय मे प्रीति जाग्रत एवं संचित हो वह आश्रय है यथा :—यदि नायक को देखकर नायिका के हृदय में प्रीतिभाव का संचार हो तो नायक विषय है, नायिका आश्रय, यदि स्थिति इसके विपरीत हो तो नायिका विषय एवं नायक आश्रय होगा।

कंकन किंकिन नूपुर धुनि सुनि। कहत लखन सन राम हृदय गुनि
मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्ही। मनसा विस्व विजय चह कीन्हीं।

सीता के अंगाश्रित आभूषणों के अनुरणन को सुनकर 'राम' में प्रीतिभाव जाग्रत होता है, अतः राम आश्रयगत आलम्बन विभाव हैं तथा सीता विषयगत आलम्बन विभाव।

(2) **उद्दीपन**—हिन्दी के आचार्यों ने उद्दीपन को परिभाषित करते हुए कहा है :—

रसहिं जगावै दीप ज्यों, उद्दीपन है सोइ।

जिस प्रकार दीपक प्रकाश को दीप्त करता है, उसी प्रकार उद्दीपन आलम्बन से सम्बद्ध भाव-व्यापार को उद्दीप्त करने के कारण माना जाता है। जैसे शृंगार रस के सन्दर्भ में उद्यान, वाटिका, सरोवर, चाँदनी बसंत आदि। 'राम तथा सीता' सम्बद्ध वाटिका प्रसंग में उद्दीपन इस प्रकार है—

भूप बाग बर देखउ जाई। जहँ बसंत रितु रही लुभाई।
चातक कोकिल कीर चकोरा। कूजत विहग नटत कल मोरा।

इस प्रसंग में बसंत ऋतु, चातक, कोकिल, कीर, चकोर आदि पक्षियों का कूजन एवं मयूर का विलास कौतुक' आदि राम की 'रति' के लिए उद्दीपन हैं।

अनुभाव—आचार्य भरत ने अनुभाव की स्थिति का निर्देश करते हुए बताया है कि इसके द्वारा भाव व्यापार प्रतीति का विषय बनता है। वे कहते हैं—

"अनुभावैस्तु गम्यते'

वे पुनः बताते हैं—

वागंगाभिनयेनेह यतस्तर्थोऽनुभाव्यते।
वागंगोपागं संयुक्तवस्तु अनुभावः ततः स्मृतः।

अर्थात्—जो भावों के पश्चात् आते हैं, वे अनुभाव हैं। वाणी, अंग संचालनादि के अभिनय स्वरूप रस का अनुभावन कराने वाले भाव अनुभाव कहे जाते हैं।

आचार्य विश्वनाथ ने अनुभाव को परिभाषित करते हुए बताया है—

उद्बुद्धं कारणैः स्वैः स्वबहिर्भावं प्रकाशयन्।
लोके यः कार्यरूपः सोऽनुभावः काव्यनाट्ययोः।

हृदय में उद्बुद्ध-रति आदि को बाहर प्रकाशित करने वाले (लोक में जो रति कार्य कहलाता है) वही काव्य तथा नाटक में अनुभाव है।

वस्तुतः हृदय के भावों की अभिव्यक्ति के सन्दर्भ में मनुष्य में होने वाली शारीरिक, मानसिक एवं वाचिक आदि क्रियाओं को जब काव्य में नायकादि के अन्तर्गत वर्णित किया जाता है तो उसे अनुभाव कहते हैं। सामान्यतया अनुभावों को तीन भागों में विभक्त किया जाता है—

(1) कायिक

(2) वाचिक

(3) सात्त्विक

किसी-किसी ने 'आहार्य' को भी अनुभाव माना है।

कायिक अनुभाव—नायकादि का किसी भाव व्यापार के वशीभूत होने पर शरीर के विविध अंग-प्रत्यगों की सहज चेष्टाओं को कायिक अनुभाव कहा जाता है। उदाहरण—

माखे लखन ,कुटिल भइ भौंहें। रद पट फरकत परम रिसौंहें।

लक्ष्मण के (क्रोध) अमर्ष से वशीभूत होते हो 'भौंहों का कुटिल होना, होंठो का फड़कना' ये कायिक या आंगिक अनुभाव हैं।

वाचिक अनुभाव—काव्य मे नायकादि का किसी भाव व्यापार के वशीभूत होकर वाणी द्वारा उसकी अभिव्यक्ति को वाचिक अनुभाव कहते हैं––

जौं तुम्हार अनुसासन पावौं। कंदुक इव ब्रह्मांड उठावौं।
काचे घट जिमि डारौं फोरी। सकउँ मेरु मूलक जिमि तोरी।

सात्विक अनुभाव—भाव के संचूचानात्मक विकार रूप अनुभाव सात्विक कहे जाते है। सत्व का सम्बन्ध मन से है। नाट्यशास्त्र के अन्तर्गत बताया गया है––

मानसः समाधौसत्वनिष्पत्तिर्भवत्ति

अर्थात्, किसी मनोविकार से प्रभावित होकर काव्य मे नायकादि समाधि जैसी स्थिति में पहुँचते हैं। उस स्थिति विशेष मे मानसी प्रभाव का शरीर के अगो पर अभिव्यक्ति संवेगात्मक प्रभाव ही सात्विक अनुभाव है। यह शरीर को जडता की स्थिति में लाता है। कम्प, स्तम्भ, रोमांच, स्वरभेद, अश्रु, मूर्च्छा, स्वेद, विवर्णता इनकी संख्या 8 बताई गई है। यथा––

गयउ सहमि नहिं कछु कहि आवा। जनु सचान बन झपटेउ लावा।
बिबरन भयउ निपट नरपालू। दामिनि हनेउ मनहु तरु तालू।

शोकग्रस्त होकर 'सहम जाना' 'विवर्ण हो जाना' आदि शोक भाव के संसूचन के लिए शारीरिक विकार के रूप मे है।

संचारी भाव—इसको आचार्य भरत ने व्यभिचारी भाव भी कहा है। उनके अनुसार—वि+अभि+चारी (चर् धातु) से निष्पन्न-व्यभिचारी शब्द का अर्थ है—विविध प्रकार से रसाभिमुख होकर विचरण करने वाले भाव। ये रसाभिमुख होकर संचरण करते हैं, इसलिए इन्हें संचारी भी कहा जाता है।

'विविधामाभिमुख्येन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिण':

इनकी कोई निश्चित सीमा नही है। ये व्यभिचारि रूप [होकर अनेक रसो के साथ रह सकते हैं।

आचार्य रूप गोस्वामी ने व्यभिचारी एवं संचारी रूप इसके चरित्रगत भेद को स्पष्ट करते हुए बताया है—

वागंगसत्व युक्ता ये ज्ञेयास्ते व्यभिचारिणः।
संचारयन्ति भावस्त गतिं संचारिणोऽपि ते।

इनकी संख्या तैंतीस बताई गई है—

निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिन्ता, मोह, स्मृति, धृति, व्रीडा, चंचलता, हर्ष, आवेग, जड़ता, गर्व, विषाद, उत्सुकता, निद्रा,

अपस्मार, सुप्त, विबोध, अमर्ष, अवहित्थ, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मरण, त्रास, वितर्क। आचार्य भानुदत्त ने 'छल' के नाम से चौंतीसवें संचारी भाव का उल्लेख किया है। हिन्दी में आचार्य शुक्ल जी 'चकपकाहट' को संचारी भाव जैसा मानते हैं।

इन व्यभिचारी को आचार्यों ने आत्मगत, परगत और मध्यस्थ इन तीन भागों में विभक्त किया है। यथा—

निर्वेद—यह भाव रोग, अपमान, दरिद्रता, आक्रोश, प्रियजन के वियोग आदि विभावों से उत्पन्न होता है।

राम प्रानप्रिय जीवन जीके। स्वारथ रहित सखा सबही के।
तुम्हरेहिं भाग राम बन जाहीं। दूसर हेतु तात कछु नाही।

'राम के वियोग' से उत्पन्न सुमित्रा के मन में उत्तम प्रकृतिमूलक निर्वेद।

शंका—यह प्रायः निम्न प्रकृति के तथा सभी जाति में उत्पन्न होने वाला मनोविकार है—

भरत सपथ मोहि सत्य कहु परिहरि कपट दुराउ।
हरस समय विस्मय करसि कारन मोहि सुनाउ।

कैकेयी 'नारी' के मन मे उत्पन्न होने वाला भाव 'शंका' संचारी है।

स्थायी भाव

स्थायिभाव सनातन वासनारूप होते हैं। ये सम्पूर्ण प्राणियो मे समान रूप से वर्तमान हैं। 'पशु' मे केवल 'हास' नामक वासना नही होती, शेष प्रवृत्ति (Instinct) के रूप मे ये सभी मे वर्तमान हैं। पाठक के मन में स्थित ये भाव विभानुभावसंचारि के संयोग से उसी प्रकार उत्पन्न हो जाया करते हैं, जैसे शुष्क काष्ठ में अग्नि। आचार्य रूपगोस्वामी इसे इस प्रकार परिभाषित करते हैं—

अविरुद्धात् विरुद्धांश्च भावां यो वशतां नयतु।
सुराजेव विराजेत स स्थायीभावोच्यते।

आचार्य विश्वनाथ परिभाषित करते हुए बताते हैं—

अविरुद्धा विरुद्धा व यं तिरोधातुमक्षमाः।
आस्वादांकुर कन्दोऽसौ भावः स्थायीति सम्मतः।

इस परिभाषाओं से स्थायीभाव के निम्नलिखित लक्षण निकाले जा सकते हैं—

(1) विरुद्ध एवं अविरुद्ध किसी भी परिस्थिति को दबाकर उत्पन्न होते है। यथा, रति के उत्पन्न होते ही क्रोध, अमर्ष, ग्लानि, लज्जा आदि सभी विरोध

भाव तिरोहित हो जाते हैं और तब तक ये तिरोहित रहते हैं, जब तक 'रति' पुष्ट न हो जाए।

(2) ये भाव छिपाए नहीं जा सकते। यथा, हासादि के उत्पन्न होने पर उन्हें छिपा सकना असम्भव प्रतीत होता है।

(3) रसास्वाद के ये मूलाधार है। सहृदयो के हृदय मे स्थिति वासना-रूप मे ये ही स्थायि भाव रस के रूप में आस्वादित होते है।

(4) समग्र प्राणियों में इनकी स्थिति अनिवार्य है।

प्रसिद्ध मनोवेत्ता मैग्डुगल ने इनकी संख्या 14 बताई है। काव्य मे रसो की संख्या के अनुसार इनकी भी संख्या-बढती गई—

स्थायीभाव	रस
(1) रति	शृंगार रस
(2) हास	हास्य ,,
(3) शोक	करुण ,,
(4) रौद्र	रौद्र ,,
(5) उत्साह	वीर ,,
(6) भय	भयानक ,,
(7) जुगप्सा	वीभत्स ,,
(8) विस्मय	अद्‌भुत
(9) निर्वेद (चित्तवृत्ति) तृष्णाक्षय सुख	शान्त
(10) आर्द्रता	वात्सल्य
(11) अभिलाष	लौल्य
(12) श्रद्धा या भक्तिरति	भक्ति
(13) स्पृहा	कार्पण्य
(14) चित्तवृत्ति प्रवृत्ति	माया रस
(15) स्नेह	प्रेयान् रस

सस्कृत के आचार्यों ने अब तक इन स्थायीभावों एवं सम्बद्ध रसो का उल्लेख किया है।

रस की संख्या (भेद) तथा उनके स्वरूप का परिचय

यद्यपि परम्परा में अनेक रसों का उल्लेख किया गया है, किन्तु परम्परा में आठ या नौ रसों को ही मान्यता मिली है। आचार्य द्रुहिण की परम्परा मे आठ रसो का उल्लेख किया गया है। शृंगार हास्य करुण रौद्र वीर भयानक

वीभत्स तथा अद्भुत। वासुकि नामक आचार्य शान्त रस को जोड़कर उनकी संख्या नौ बताते है। इन रसो का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

शृंगार रस—'शृंगार' शब्द की व्युत्पत्ति शृंग+आर से हुई है। 'शृंग' शब्द का अर्थ है, मथनोद्भेद, (काम की बलवती लालसा) और 'आर' अर्थ आगम हेतु है। कहा गया है—

शृंगं हि मन्मथोद्भेदः तस्य आगमन हेतुकः।
उत्तम प्रकृति प्रायो रसः शृंगारेष्यते।

संस्कृत तथा हिन्दी के रीतिकाल मे शृंगार को रसराज कहा गया है, क्योंकि इनमें अन्य अलंकारों को समाहित तथा मनुष्य की चित्तवृत्ति को अधिक सान्द्र बना लेने की शक्ति है। संस्कृत साहित्य में भोजदेव ने 'शृंगार प्रकाश' की रचना करके यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि इसी से सम्पूर्ण रस निकलते है तथा इसी मे विलीन हो जाते हैं। शृंगार रस का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

स्थायी भाव—रति

आलम्बन विभाव—उत्तम स्वभाव के अनुरक्त युवक-युवतियाँ

उद्दीपन विभाव—वसंत-ऋतु, उपवन, चन्द्रिका, नायक के गुणादि का श्रवण आदि

अनुभाव—भ्रूक्षेप, कटाक्ष, नटन व्यापार आदि तथा विप्रलम्भ में इसकी स्थिति भिन्न होती है।

संचारी भाव—उग्रता, आलस्य, जुगुप्सा को छोड़कर शेष तीस संचारी भाव इसमे किसी-न-किसी रूप मे पाये जाते हैं।

आचार्यों ने इसको दो भागों मे विभक्त किया है

(1) संयोग

(2) विप्रलम्भ

संयोग—संयोग को सामान्यतया 'नायकारब्ध' एवं 'नायिकारब्ध' के क्रम से दो भागों में विभक्त किया जाता है।

विप्रलम्भ—इसको पाँच भागों में विभक्त किया गया है—

(क) पूर्वराग (ख) मान, (ग) प्रवास, (घ) विरहात्मक, (ङ) करुणात्मक।

यथा—

संयोग—

चितवत चकित चहूँ दिसि सीता। कहँ गये नृप किसोर मन चीता।
लता ओट तब सखिन्ह लखाये। स्यामल गौर किसोर सुहाये।
थके नयन रघुपति छवि देखें। पलकन्हिहूँ परिहरीं निमेषें।
अधिक सनेह देह भइ भोरी सरद ससिहि जनु चितव चकोरी
लोचन मग रामहि उर आनी दीन्हें पलक कपाट सयानी

विप्रलम्भ—

हे खगमृग हे मधुकर श्रेनी। तुम्ह देखी सीता मृगनैनी।
खंजन सुक कपोत मृग मीना। मधुर निकट कोकिला प्रवीना।
सुनि जानकी तोहि बिनु आजू। हरषे सकल पाइ जनु राजू।

हास्य रस

विकृति को हास्य रस का कारण माना गया है। दूसरे शब्दों में विकृत वेश-विन्यास, विकृत अलंकरण, असंगत भाषण, अंग-प्रत्यंगो की विकृति आदि इसके लिए विभाव हैं। विकृत आचार को व्यक्त करने वाली विविध चेष्टाएँ अनुभाव के रूप मे हैं संचारी के अन्तर्गत हर्ष, कम्प, रोमाञ्च, स्वेद, आलस्य आदि को रखा जाता है। आचार्यों ने उत्तम, मध्यम एवं निम्न श्रेणी के पुरुष-स्त्रियों के आधार पर इसको छः भागो मे विभक्त किया है।

(1) **उत्तम प्रकृति**
 (क) स्मित
 (ख) हसित
(2) **मध्यम प्रकृति**
 (ग) विहसित
 (घ) उपहसित
(3) **निम्न प्रकृति**
 (ङ) अपहसित
 (च) अतिहसित

हास्य रस के इन भेदो का आचार्यों ने आत्मस्थ और परस्थ इन दो भेदो मे विभक्त करके इसे बारह उपभेदो में रखा है। वैसे, अग्निपुराणकार के अपहास और अतिहास को हास्य रस का भेद नही स्वीकार किया है। यथा—

बर अनुहारि बरात न भाई। हँसी करैहहु पर पुर जाई॥
नाना वाहन नाना वेषा। विहँसे सिव समाज निज देखा॥
कोउ मुख हीन बिपुल मुख काहू। बिनु पद कर कोउ बहु पद बाहू॥
बिपुल नयन कोउ नयन बिहीना। रिष्ट पुष्ट कोउ अति तन खीना॥

यहाँ मुख, पद, बाहु, नयन, तन आदि अंग-प्रत्यंगो की विकृतियो द्वारा हास्य रस को व्यक्त करने की चेष्टा की गयी है।

करुण रस

भवभूति ने 'उत्तररामचरितम्' नाटक के अन्तर्गत इसे सम्पूर्ण रसो का आधारभूत तत्त्व माना है यह रसों में अत्यन्त सान्द्र एवं विगलन की स्थिति

उत्पन्न करने वाला रस माना जाता है। 'शोक' स्थायी भाव से इसका सम्बन्ध जोड़ा जाता है और प्रियजन के वियोग से सम्बद्ध देशनाश, विभवनाश, शाप में उत्पन्न क्लेश, देश निर्वासन तथा अनेकानेक सम्भावित विपत्तियों का आगमन विभाव के रूप मे होता है। करुण रस के व्यभिचारी भावग्लानि, चिन्ता आवेग, मोह, भय, विषाद, दीनता, त्रास आदि हैं। अश्रुपात, शोक प्रलाप, मुख शुष्कता, वैवर्ण्य स्मृति विलोप आदि अनुभाव है।

आचार्यों ने इसको कई तरह मे विभक्त किया है। 'भरत' इसके तीन भेद स्वीकार करते हैं—

(1) धर्मोपघातक,
(2) अर्थापचयोद्भव,
(3) शोककृत

अग्निपुराणकार ने चित्तग्लानिजन्य इसके एक अन्य भेद को भी स्वीकार किया है। अन्य आचार्यों ने इसके स्वनिष्ठ और परनिष्ठ भेद भी किये है किन्तु वह अधिक प्रचलित नही है। आचार्य भरत के ही भेद परम्परा में अधिक प्रसिद्ध हैं। यथा—

बचन बिनीत मधुर रघुबर के। सर सम लगे मातु उर करके॥
सहमि सूखि सुनि सीतल बानी। जिमि जवास परें पावस पानी॥
कहि न जाइ कछु हृदय बिषादू। मनहुँ मृगी सुनि केहरि नादू॥
नयन सजल तन थर-थर काँपी। माँजहि खाइ मीन जनु मापी॥

यहाँ कवि निर्वासनजनित शोक कृत भेद के अन्तर्गत करुण रस का चित्रण कर रहा है।

वीर रस

उत्साह स्थायी भाव से परिपुष्ट यह वीर रस अनेक रूपों में काव्य के अन्तर्गत प्रकट होता है। पराक्रम, बल, न्याय यश और तत्त्व का विनिश्चय आदि इसके कारण बताए जाते हैं। यही इसके विभाव हैं। धैर्य, शौर्य, निपुणता, त्याग आदि इसके अनुभाव हैं। संचारी के रूप में इस रस के अन्तर्गत धृति, मति, क्रोध, रोमाञ्च, उग्रता, आवेग अमर्ष आदि को रक्खा गया है। वीर रस में युद्ध आदि के होने पर भी रौद्र भाव नही आता क्योंकि इसमें उत्साह की प्रधानता होती है। आचार्य भरत ने नाट्य शास्त्र के अन्तर्गत इसके तीन भेदों का उल्लेख किया है—

(1) दानवीर
(2) धर्मवीर
(3) युद्धवीर

धनञ्जय ने धर्मवीर के स्थान पर दयावीर का उल्लेख किया हैं। पंडितराज जगन्नाथ ने सत्यवीर और पांडित्य वीर का भी उल्लेख किया है परन्तु परम्परा मे वीर रस के तीन ही भेद स्वीकार किए जाते हैं—दानवीर, धर्मवीर और युद्धवीर तथा इनके स्थायी भाव दानोत्साह, धर्मोत्साह और युद्धोत्साह है। यथा—

जौं तुम्हारि अनुसासन पावौ। कंदुक इव ब्रह्मांड उठावौ ।।
काचे घट जिमि डारौं फोरी। सकौं मेरु मूलक जिमि तोरी ।।
तव प्रताप महिमा भगवाना। को बापुरो पिनाक पुराना ।।

इसमें लक्ष्मण के युद्धोत्साह का वर्णन किया गया है।

भयानक रस

भय स्थायी भाव से पुष्ट रस को भयानक रस कहते हैं। पताका पतन, कीर्ति दोष, भयोत्पादक शब्द, युद्ध भूमि, निर्जन स्थान, शत्रु आदि से घिर जाना आदि इसके कारण है। हाथ पैर मे कपन, शरीर में रोमाञ्च, विवर्णता, स्वर परिवर्तन अनुभावों से यह स्पष्ट होता है। संचारी भाव के अन्तर्गत स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, कंप, त्रास, चपलता आदि आते है। आचार्य भरत ने इसके तीन भेदो का उल्लेख किया है। (1) व्याधिजन्य (कृत्रिम) (2) अपराधजन्य, (3) वित्रासितक (अनिष्ट की आशंका से उत्पन्न)। यथा—

बाहेर होइ देखि बहु कीसा। मोहि अहार दीन्हा जगदीसा ।।
आजु सबहि कँह भच्छन करऊँ। दिन बहुचले अहार बिन मरऊँ ।।
डरपे गीध बचन सुनि काना। अब भा मरन सत्य हम जाना ।।

यहाँ 'वित्रासितक' भय का हेतु है।

वीभत्स रस

जुगुप्सा स्थायी भाव से परिपुष्ट रस वीभत्स कहलाता है। इसके अन्तर्गत मलिनता, दुर्गन्ध, कर्कशता आदि अरुचिकर जुगुप्साप्रधान अर्थ आते हैं। विभाव के रूप में रक्त, कफ, पित्त आदि का निकलना अनुभाव के रूप में आंख, कान, नाक को बन्द करना, जी मचलना, मुँह बिचकाना आदि आते है। व्याधि, मोह, आवेग, अपस्मार, मरण आदि इसके व्याभिचारी भाव हैं। आचार्यों ने इसे दो भागो में विभक्त किया है—

(1) शुद्ध अथवा क्षोभण,
(2) अशुद्ध अथवा उद्वेगी

किसी-किसी आचार्य ने वैराग्य से उत्पन्न मानव शरीर के प्रति जुगुप्सा को भी इसके अन्तर्गत रखा है। यथा—

काक कंक लै भुजा उड़ाही। एक ते छीनि एक लै खाहीं ॥
कंहरत भट घायल तट गिरे। जँह तँह मनहुँ अर्ध जल परे ॥
खैंचहिं गीध आँत तट भए। जनु बंसी खेलत चित दए ॥

यहाँ क्षोभण रूप प्रथम बीभत्स रस का प्रयोग किया गया है।

अद्भुत रस

विस्मय स्थायी भाव से परिपुष्ट रस अद्भुत कहलाता है। दिव्य रचना, इन्द्रजाल, अति सुन्दर वस्तु के दर्शन एवं अभीष्ट अर्थ की सिद्धि इसके विभाव हैं। इन्ही से इसकी उत्पत्ति होती है। अनुभाव के अन्तर्गत आश्चर्य में आँखों का फैलना, एकटक देखना, हाथ, मुँह, अँगुली एवं वस्त्रों को घुमाना आदि हैं। अद्भुत रस के संचारी भाव रोमाञ्च, आवेग, भ्रम, हर्ष, चपलता, उन्माद, जड़ता हैं। आचार्य भरत ने इसे दो भागों में विभक्त किया है—

(1) दिव्य अर्थात् दैवी चमत्कारों से युक्त,
(2) आनन्दज अर्थात् अप्रत्याशित घटनाओं से उत्पन्न। यथा—

एक बार जननी अन्हवाए। करि सिंगार पलना पौढ़ाए ॥
करि पूजा नैवेद्य चढ़ावा। आपु गई जँह पाक बनावा ॥
बहुरि मातु तहवाँ चलि आई। भोजन करत देख सुत जाई ॥
गए जननी सिसु पहँ भयभीता। देखा बाल तहाँ पुनि सूता।
इहाँ उहाँ दुइ बालक देखा। मति भ्रम मोर की आन बिसेषा ॥

प्रस्तुत संदर्भ में दिव्य अर्थात् दैविक चमत्कार से उत्पन्न अद्भुत रस को व्यक्त किया गया है।

रौद्र रस

उद्धत प्रकृति से सम्बद्ध क्रोध नामक स्थायी भाव से सम्पुष्ट यह प्रहार, असत्य, द्रोह, अपनीति भाव को व्यक्त करता है। इसके अन्तर्गत ताडन, पीड़न, छेदन, प्रहरण, शस्त्र संपात आदि विशेष रूप से घटित दिखाई पड़ते हैं। दाँतों का कटकटाना, नेत्रों का अरुण वर्ण होना, भौंहो का वक्र होना, कपोलों का फड़कना आदि अनुभाव आते हैं। संचारी भाव के अन्तर्गत आवेग, जड़ता, अपस्मार, गर्व आदि हैं। आचार्यों ने इसको वाक्य, वेश और अंग इन तीनों के क्रम से तीन भागों में विभक्त किया है। जिसके अन्तर्गत—

(1) वचनात्मक रौद्र रस,
(2) वेषात्मक रौद्र रस,
3 आंगिक या क्रियात्मक रौद्र रस स्वीकार किया है। यथा

क्रुद्धे कृतांत समान कपि तन स्रवत सोनित राजहीं।
मर्दहिं निसाचर कटक भट बलवन्त घन जिमि गाजहीं।
मारहिं चपेटन्हि डाटि दातन्ह काटि लातन्ह मीजहीं।
चिक्करहिं मर्कट भालु छल बल करहिं खल छीजहीं।

इसमे कवि ने आंगिक या क्रियात्मक रौद्र रस का वर्णन किया है।

शान्त रस

इसकी तीन स्थिति साहित्य शास्त्र मे मिलती है। प्रारम्भिक शास्त्रकार शान्त रस का स्थायी भाव निर्वेद या निवृत्ति मानते हैं। आचार्य अभिनव गुप्त के अनुसार इसका स्थायीभाव तृष्णाक्षय सुख है। भक्त आचार्यों ने शान्ति भक्ति-रस की परिकल्पना की है, और उन्होने स्वीकार किया है कि इसका स्थायी भाव शान्त भक्तिरति है। वस्तुत. तीनों में कोई विरोध नही है। धार्मिक मान्यताओं से सम्बन्ध होने के कारण इस शान्त के विविध रूप विविध धार्मिक मतो एवं उनसे सम्बद्ध साहित्य मे मिलता है।

सामान्यतया स्वीकार किया गया है कि यह मोक्ष का सम्पादक एवं तत्त्व-ज्ञान, वैराग्य, चित्तशुद्धि आदि विभावो द्वारा सम्पन्न होता है। यम, नियम, आध्यात्मध्यान, धारणा, उपासना, समस्त प्राणियो पर दया, सन्यास आदि अनुभावों द्वारा इसको ग्रहण किया जाता है। निर्वेद, धृति, स्मृति, स्तम्भ, रोमांच, हर्ष आदि इसके संचारी भाव है।

आचार्य अभिनव गुप्त ने 'शान्तरस' के महत्त्व को 'अभिनव भारती' के अन्तर्गत बड़े ही विलक्षण तर्कों से प्रतिपादित किया है। उनके अनुसार 'शान्त रस' सम्पूर्ण रसो का मूलाधार है। इसी से सम्पूर्ण रस निष्पन्न होते हैं तथा इसी मे विलीन हो जाते हैं—

भावा विकारा रत्याद्याः शान्तस्तु प्रकृतिर्मतः।
विकार. प्रकृतेर्जातः पुनस्तत्रैव लीयते।
स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद् भावः प्रवर्तते।
पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते॥

शान्त मूल प्रकृति है, रत्यादि उस मूल प्रकृति (शान्त) के विकार हैं। विकार (रति आदि) उसी मूल प्रकृति से उत्पन्न होते है और उसी में विलीन हो जाते है। अपने-अपने निमित्तो (स्थायीभावो) की पूर्ति के लिए ये शान्त से ही सम्पन्न होते है और अपने निमित्तो की परिपूर्णता के बाद (उसी) शान्त मे ही विलीन हो जाते हैं। यथा—

झूठेउ सत्य जाहि बिनु जाने। जिमि भुजंग बिनु रज पहिचाने।
जेहि जाने जग जाइ हेराई। जागे जथा सपन भ्रम जाई।
बंदउ बाल रूप सोइ रामू। सब सिधि सुलभ जपत जिसु नामू।

प्रस्तुत अंश में 'तृष्णाक्षय सुखमूलक' शान्ति रस का चित्रण किया गया है।

भक्तिरस

वैष्णव भक्ति साहित्य की रचना के साथ-साथ भक्तिरस की उद्भावना हुई। इसकी दो परम्पराएँ मिलती है, (1) लीला सापेक्ष्य भक्तिरस—जिसका व्यवस्थित विवेचन श्री रूप गोस्वामी जी ने किया है। (2) लीला निरपेक्ष भक्ति रस, जिसकी व्याख्या का श्रेय श्री मधुसूदन सरस्वती को है। रूप गोस्वामी के अनुसार भक्ति रस की परिभाषा इस प्रकार है—

भक्ति विषयक विभाव, अनुभाव, सात्त्विक एवं व्यभिचारी भाव से परिपुष्ट सामग्री भक्ति रस रूपता को प्राप्त होती है। इसका स्थायी भाव कृष्ण रति है। श्रवणादि नवधा साधन, कृष्ण का वेष विन्यास, रूप माधुरी आदि अनुभाव के रूप मे है। तैंतीस संचारी मिलकर इस भक्ति रस को सान्द्र तथा उत्कट बनाते हैं। इन्होंने अधिकार भेद से इसे पाँच प्रकार का माना है—

शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर। उनकी धारणा के अनुसार कृष्ण की समग्र लीलाओं को इन पाँच भागों में विभक्त किया जाता है, और उन्हीं से सम्बन्धित 'रति' इसके लिए क्रमशः आधार हैं—

भक्तिरस के स्थायी भाव	भक्तिरस के भेद
(1) शान्त भक्तिरति	(1) शान्त भक्तिरस
(2) दास्य भक्तिरति	(2) दास्य भक्तिरस
(3) सख्य भक्तिरति	(3) सख्य भक्तिरस
(4) वात्सल्य भक्तिरति	(4) वात्सल्य भक्तिरस
(5) मधुर भक्तिरति	(5) मधुर भक्तिरस

इनकी धारणा है कि क्रमशः शान्त से भक्ति रस सान्द्र होता हुआ मधुर भक्ति रस तक सान्द्रतम हो जाता है। मधुर भक्ति रस का दूसरा नाम 'उज्ज्वल रस' भी हैं। यथा—

सुंदर सुजान कृपा निधान अनाथ पर कर प्रीति जो।
सो एक राम अकाम हित निर्वानप्रद सम आन को।
जानकी कृपा लवलस ते मतिमंद तुलसीदास हूँ।
पायो परम बिश्राम राम समान प्रभु नाही कहूँ।

श्रद्धा राम की अनन्य कृपा एवं आत्यन्तिक समपण के कारण दास्य भक्तिरस अभिव्यक्त हुआ है।

वात्सल्य च रस या वात्सल्य भक्तिरस

भक्ति रस की चर्चा के पूर्व वात्सल्य की चर्चा अभिनव गुप्त, हेमचन्द्र, शिङ्भूपाल, भानुदत्त, भूपाल हरिदेव आदि कर चुके थे। इन आचार्यों ने वात्सल्य को भिन्न रस माना है। कविराज विश्वनाथ साहित्य दर्पण में कहते हैं—

'स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं रसं विदुः'

अर्थात् चमत्कार स्फुट होने के कारण वात्सल्य को रस माना जा सकता है।

भक्त आचार्यों मे श्री रूप गोस्वामी जी ने वात्सल्य भक्तिरति स्थायी भाव से सम्पुष्ट वात्सल्य भक्तिरस को मान्यता दी है। लोक वात्सल्य जब ईश्वर की बाल-लीला स जुड़ता है, तब इसकी-स्थिति इस रूप मे आ जाती है।

काव्यशास्त्रियों ने वात्सल्य के स्थायिभाव के लिए 'अभिलाष' का उल्लेख किया है। भानुदत्त ने 'वात्सल्य भाव' को ही इसका स्थायी भाव माना है। मूलत: वात्सल्य मे मूल में पुत्रासक्ति की वासना निहित है, अत. इसके रसत्व को अस्वीकार करना सम्भव नही है। पुत्रासक्ति ही वात्सल्य का स्थायीभाव है। वात्सल्य का आलम्बन शिशु है तथा उद्दीपन शिशु की क्रीडाएँ एवं अन्य स्वाभाविक विहार है। अनुभाव के रूप मे आलिगन, स्पर्श, चुम्बन एवं अन्य पुत्रासक्ति की व्यंजक क्रियाएं है। हर्ष, आवेग, चपलता आदि संचारी है।

मामान्यता कृष्ण भक्ति काव्य मे प्राप्त वात्सल्य वात्सल्य भक्तिरस के उदाहरण के रूप मे हैं, फिर भी, मूलाधार लीलात्मक है, जिसमे लोकात्मक वात्सल्य की भी स्थिति समान रूप से दिखाई पड़ती है। यथा—

भोजन करत बोल जनु राजा। नहिं आवत तजि बाल समाजा।
कौसल्या जब बोलन जाई। ठुमुक ठुमुक प्रभु चलहिं पराई।
धूसर धूरि भरें तनु आये। भूपति बिहसि गोद बैठाये।
भोजन करत चपल चित, इत उत अवसर पाई।
भाजि चले किकलत मुख, दधि ओदन लपटाई।

बालसुलम विविध क्रियाओ एवं चेष्टाओं से अभिव्यक्त शिशु राम के वात्सल्य को यहाँ व्यजित किया गया है।

रस की अन्य दशाएँ—

भारतीय काव्यशास्त्र में ध्वनि सिद्धान्त के अन्तर्गत रस को परम्परित व्याख्या से इतर भी स्पष्ट किया गया है। ध्वनि सिद्धान्त परम्परा में विवेचित

रस को काव्य की आत्मा मानता है। उसके एक भेद असंलक्ष्य क्रम के रूप में इस चर्चा करते हुए ध्वनि सिद्धान्त के प्रवर्तक आनन्दवर्धन रस के अवान्तर रूपों की भी व्याख्या करते हैं। काव्य मे व्यक्त होने वाले रस से भिन्न उसके अन्य रूप इ प्रकार हैं—

भाव, भावाभास, रसाभास, भवोदय, भावसन्धि, भावशबलता तथा भा शान्ति।

भाव—जहाँ रसाभिव्यक्ति करा सकने की पूरी सामर्थ्य प्रसग मे न ह या रचनाकार का उद्देश्य एक भाव मात्र को व्यंजित करने का हो। यथा—

तब सिव तीसर नयन उघारा। चितवन काम भयेउ जरि छारा।

मात्र 'रौद्र' भाव की व्यंजना हुई है।

रसाभास—जहाँ अपुष्ट रस का चित्रण किया जाये वहाँ रसाभास कहलात है—

संगम करइँ तलाव तलाई। नदी उमंगि अंबुधि पहिं जाई।

यहाँ 'रति' का आवेश प्रकृति में किया गया है।

भावाभास—जहाँ अपुष्ट भाव का चित्रण हो उसे भावाभास कहा जात है—

ओस बहाकर रोती रजनी, टप-टप बूँद गिराती।

यहाँ 'रात्रि' के रोने की परिकल्पना भावाभास मात्र है।

भाव शबलता—जहाँ क्रमशः भावों में उत्कर्ष प्रदर्शित किया आए वह भाव शबलता की स्थिति बताई जाती है—

दीन दसा देखि ब्रजबालनि की ऊधौ कौ,
गरिगौ गुमान ग्यान गौरव गुठाने से।
सूखे से सके से सकबके से जके से थके,
भूले से भ्रमे से भभरे भकुआने से।

यहाँ क्रमशः भावों का उत्कर्ष व्यंजित होने के कारण भाव शबलता है।

भावसन्धि—जहाँ दो विपरीत भावो की सन्धि दशा का चित्रण किया जा वहाँ भावसन्धि की स्थिति बताई जाती है—

पिय बिछुरन को दुसह दुख, हरषि जात प्यौसार।
दुरजोधन लौ देखियत, तजत प्रान इहिं बार॥

यहाँ 'पति वियोग के दुख' एवं पिता के घर जाने की प्रसन्नता' इन भावदशाओं की सन्धि के कारण भावसन्धि है।

भावोदय—जहाँ अनेक भावों के बीच किसी विशिष्ट भाव की प्रबलता व्यंजित हो उसे भावोदय कहा जाता है—

उझकि उझकि पद कंजनि के पंजनि पै,
पेखि पेखि पाती छाती छोहनि सबै लागी।
हमको लिख्यो है कहाँ, हमको लिख्यो है कहाँ,
हमको लिख्यो है कहाँ, कहनि सब लगी।

एक विशिष्ट भाव सौन्दर्य को उत्कर्ष प्रदान करने के कारण यहाँ भावोदय है।

भाव शान्ति—भावो के उत्कर्ष को जिज्ञासा आदि के आधार पर चित्रित करके पुनः औत्सुक्य-समाप्ति के माध्यमो से संयमित करना भाव शान्ति है—

अतीव उत्कंठित ग्वाल बाल हो,
सवेग आते रथ के समीप थे।
परन्तु होते अति ही मलीन थे,
न देखते थे जब वे गोविन्द को।

ग्वाल बालों का उत्कंठा के साथ कृष्ण के लिए रथ के पास आना और उन्हें न देखना-औत्सुक्य समाप्ति का कारण है। इस स्थिति के कारण भावशान्ति है।



8
शब्द शक्ति

पद तथा पदार्थ के बीच निश्चित एवं नियत सम्बन्ध है। ये सम्बन्ध व्यवहार में परम्परा से चले आ रहे हैं। पद तथा पदार्थ के इन नियत सम्बन्धों के आधार पर वक्ता आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि तथा तात्पर्य से जुड़ा कर शब्दों का प्रयोग करता है। ये शब्द उक्त आकांक्षा-योग्यता आदि के क्रम में अपने को व्यक्त करने की सामर्थ्य से परिपूर्ण होते हैं। उनकी इसी परिपूर्णता का नाम शब्दशक्ति है।

महर्षि पतंजलि ने शब्द को परिभाषित करते हुए बताया है—

"श्रोतोपलब्ध बुद्धिनिग्राह्यः प्रयोगेनाभिज्वलति आकाशदेश. शब्दः"

"शब्द" की चार विशेषताएं होती हैं।

(1) शब्द कर्णेन्द्रियो द्वारा ग्राह्य होते हैं।

(2) बुद्धि द्वारा ग्रहण (अभिप्राय रूप में) किए जाते हैं।

(3) प्रयोग द्वारा जो अभिज्वलित (स्फुट या प्रकट) होते हैं।

(4) आकाश के धर्म होते हैं।

शब्दों के ये चारो विशेषताएँ मूलत. व्याकरण दर्शन के अन्तर्गत स्वीकार्य हैं, और इन तत्त्वो द्वारा उनका भौतिक स्वरूप निर्धारित किया जाता है। शब्द-शक्ति का सम्बन्ध इन तत्त्वों से परिपूर्ण शब्दों से है।

किसी शब्द में अर्थ की अभिव्यक्ति कराने के लिए 'संकेत ग्रह' होते हैं। लोक व्यवहार मे शब्दशक्ति के आधार यही सकेत ग्रह हैं। 'संकेतग्रह' का तात्पर्य है; शब्द में सार्थकता उत्पन्न कराने वाले तत्त्व। ये इस प्रकार हैं—

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमाना,
कोशाप्तवाक्य व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेवदन्ति,
सान्निध्यतः सिद्धपदस्यवृद्धाः ॥

व्याकरण, उपमान, कोश, आप्तवाक्य, व्यवहार, वाक्यशेष, विवृत्ति, सिद्धपदसान्निध्यादि संकेतग्रह के साधन हैं। उदाहरण के लिए यदि "गवय" शब्द का प्रयोग किया जाता है "गौरिव गवय" गाय की भाँति नील गाय जैसा अर्थ उपमान के आधार पर हम निश्चित कर लेते हैं। यदि कोई जटिल अर्थ है तो कोश देखकर निर्धारण कर लिया जाता है, शराबखाने मे मधुपान कर रहा है, व्यवहार या सिद्धपदसान्निध्य से "मधुपान" का अर्थ शराब पीना लगा लिया जाता है। इस प्रकार संकेतग्रह के उपर्युक्त साधन शब्दशक्ति के निर्धारण मे सहायक होते हैं।

सामान्य रूप से शक्ति पद को चार भागो मे विभक्त किया जाता है—

(1) **यौगिक**—जो विभिन्न अवयवार्थ के संयोग से अर्थ का बोध कराते है, जैसे पाचक।

(2) **रूढ़**—ये शब्द समुदाय शक्ति के बोधक होते है, जैसे घट, पट।

(3) **योग रूढ़**—जो अवयवार्थ के साथ-साथ समुदाय शक्ति का सम्मिलित रूप से बोध कराएँ, जैसे—पंकज।

(4) **योगिक रूढ़**—जो अवयवार्थ एव समुदार्य अर्थ का भिन्न-भिन्न बोध कराता है जैसे उत्थित, यह अपने अवयव पद से उदभेदकर्ता तरु एवं समुदाय शक्ति से भाग विशेष का बोध करा रहा है।

काव्य के अन्तर्गत अभिधेय शब्दों का बोध कराने के लिए इनका उल्लेख किया जाता है।

शब्द शक्ति के भेद—शब्द शक्ति के तीन भेद किये जाते हैं—

(1) अभिधा
(2) लक्षणा
(3) व्यंजना

"तात्पर्य" नामक शब्द शक्ति को चतुर्थ शक्ति के रूप मे कुछ आचार्य मान्यता प्रदान करते हैं। इनसे निकलने वाले अर्थों को अभिधेयार्थ लक्ष्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ कहा जाता है। अभिधा का प्रथमा एवं अग्रिमा शक्ति एवं वाचक एवं लक्षणा को भक्ति शक्ति का भी नाम दिया गया है।

अभिधा—अभिधा शक्ति को दार्शनिक, वैयाकरण एवं काव्यशास्त्र के चिन्तक आचार्य सभी स्वीकृति प्रदान करते है। अभिधा व्यापार ही लोकप्रपंच को जानने, समझने तथा समझाने का प्रथम मूल भाषिक आधार है। मूल आधार होने के कारण काव्यशास्त्र में इस अभिधा शक्ति को सर्वोपरि स्थान दिया गया है। गुण एवं रीति-

वादियों ने इस भाषिक वैशिष्ट्य के लिए धर्म, वक्रोक्तिवादी कुन्तक ने इसे कवि व्यापार, ध्वनिवादियों ने इस वाच्य व्यापार की संज्ञा दी है।

अभिधा को परिभाषित करते हुए आचार्य मम्मट ने बताया है—

"साक्षात्संकेतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचक."

अर्थात् जिसके द्वारा साक्षात् संकेतित अर्थ की प्राप्ति (ज्ञान) होता है, वह अभिधा पद शक्ति है। इस अभिधा पद से सम्पन्न होने वाले पदार्थ को अभिधेय शक्ति का नाम दिया जाता है।

मूलतः अभिधा के अन्तर्गत शब्द अर्थमुख और अर्थ शब्दमुख होते हैं।

आचार्य अप्पयदीक्षित ने अभिधा को परिभाषित करते हुए बताया है कि—

"शक्त्याप्रतिपादकत्वमभिधा"—अर्थात् वस्तु का साक्षात् बोध कराने वाली शक्ति का नाम अभिधा है।

आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ ने बताया है कि इसका नाम पदशक्ति है। इसको उन्होंने इस प्रकार परिभाषित किया है—

अर्थ का शब्द के साथ और शब्द का अर्थ के साथ स्थित प्रत्यक्ष सम्बन्ध ही अभिधा है।

काव्यशास्त्र में अभिधा शक्ति के तीन भेद किये गये हैं—

(1) यौगिक
(2) रूढ़
(3) योग रूढ़।

इनके लक्षणों को पूर्व ही स्पष्ट किया जा चुका है।

लक्षणा—लक्षणा शब्द भी मुख्यता दार्शनिक सिद्धान्तों से ही लिया गया है। शब्द प्रमाण के अन्तर्गत इसे नैयायिकों ने स्थान दिया है। मीमांसक इसको शब्द-शक्ति तो मानते हैं किन्तु इसे मुख्य शक्ति न मानकर अमुख्यवृत्ति के नाम से पुकारते हैं। इसके परम्परा में प्रचलित नाम गुणवृत्ति, भक्ति, उपचार आदि हैं। आचार्य अभिनवगुप्त, आनन्दवर्धन के मूल पाठ "भाक्तमाहु" की व्याख्या करते हुए बताते हैं—"भक्तिर्हि लक्षणाव्यापारः"। आचार्य वामन ने लक्षण शब्द का कई स्थानों पर प्रयोग किया है। आचार्य कुन्तक ने सम्पूर्ण अलंकार व्यापार को लक्षण के रूप में निर्दिष्ट किया है, और उसका नाम उपचार रखा है।

लक्षणा की परिभाषा—

लक्षणा को कई रूपों में परिभाषित किया है किन्तु अभिप्राय एक-सा ही है। आचार्य मम्मट ने लक्षणा को इस प्रकार परिभाषित किया है—

मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात् ।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिता क्रिया ।।

मुख्यार्थ की बाधा के कारण (उस बाधा के फलस्वरूप) अन्य के साथ उसके रूढिवश या प्रयोजनवश योग (सम्बन्ध) होने पर जहाँ उस वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ का बोध हो, वह लक्षणा है । इस परिभाषा के अनुसार लक्षणा के तीन तत्त्व है—

(1) मुख्यार्थ की बाधा

(2) अन्य अर्थ (लक्ष्यार्थ) का उससे सम्बन्धित होना

(3) इस व्यापार की रूढिवशात् या प्रयोजनवशात् घटित होना

साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने इसे इस प्रकार परिभाषित किया है—

मुख्यार्थबाधेतद्युक्तो ययायोर्थः प्रतीयते ।
रूढ़ेप्रयोजनाद्वासौ लक्षणाशक्तिरर्पिता ।।

इस परिभाषा में भी वही सम्पूर्ण तत्त्व है, जो आचार्य मम्मट की परिभाषा मे ।

(1) **मुख्यार्थ की बाधा**—जैसा कि अभिधा शक्ति के विवेचन मे बताया गया है कि उसमें शब्द का साक्षात् संकेतित अर्थ मिलता है, किन्तु लक्षणा की पहली शर्त यही है कि शब्द का अभिधेय या साक्षात् सकेतित अर्थ नही निकलता । उदाहरणार्थ—किसी व्यक्ति के लिए "पाषाण खण्ड" कहा जाए तो यहाँ "पाषाण खण्ड" का अर्थ "पत्थर का टुकडा" न होकर जड तथा निष्ठुर जैसा होगा । इस स्थिति को मुख्यार्थ की बाधा कहा जाता है ।

(2) **अन्य अर्थ का उससे सम्बन्धित होना**—अभिधा के मुख्यार्थ के त्याग की एक प्रक्रिया है और दूसरी प्रक्रिया अन्य अर्थ का उससे जुड जाने की है । "पाषाण खण्ड" कहते ही जहाँ प्रथम अर्थ समाप्त होगा । निष्ठुरता तथा जडता का अर्थ तुरन्त उससे जुड जाना और लक्ष्यार्थ की यह दूसरी स्थिति है ।

(3) अर्थ की यह स्थिति रूढिवश या प्रयोजनवश होती है । रूढि का अर्थ है, इस प्रकार अभिधेयार्थ में अन्य अर्थ के योग की स्थिति परम्परा के अनुसार होती है या किसी प्रयोजन से ऐसा किया जाता है । मूलतः प्रयोजन की स्थिति का सम्बन्ध कवि या वक्ता के अभिप्राय से माना जाता है ।

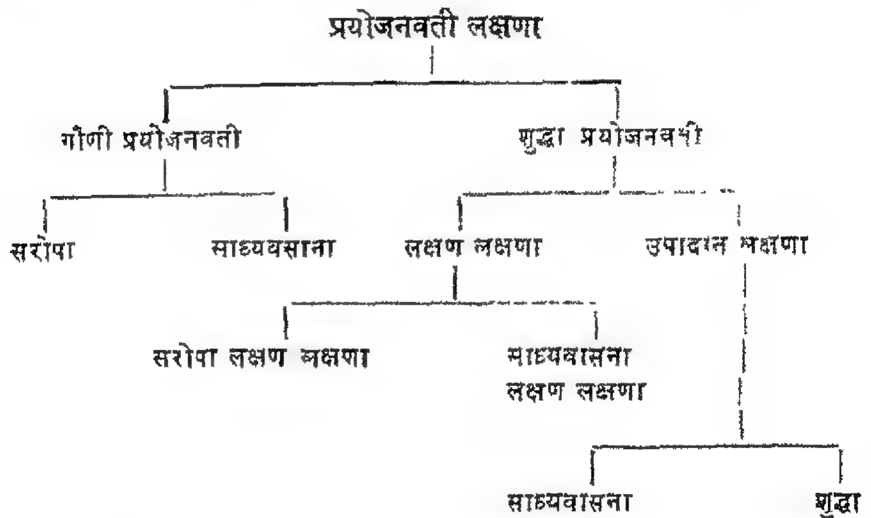
लक्षणा के भेद

लक्षणा के दो भेद किए गए हैं—(1) रूढिमती लक्षणा, (2) प्रयोजनवती लक्षणा ।

(1) **रूढ़िमती लक्षणा**—जहाँ मुख्य की बाधा के बाद उसमे अन्य अर्थ का योग करा दिया जाए, यह रूढ अपना विशिष्ट अर्थ देने लगे । मूलतः रूढा लक्षणा

के शब्द प्रचलन में इतने अधिक रहते है कि उनका लाक्ष्यार्थ चमत्कार शून्य-सा प्रतीत होने लगता है और वे अभिधेय जैसे बन जाते है। जैसे— प्रवीण, कुशल। मुख्यत वीणा बजाने में कुशल को ही प्रवीण कहा जाता है किन्तु प्रवीण का अर्थ सभी प्रकार की कुशलता से किया जाता है। "कुशल" का अर्थ "कुश" को निकालने की सामर्थ्य एवं दक्षता से है, किन्तु कुशल का अर्थ सामान्य कुशलता से ले लिया जाता है।

(2) **प्रयोजनवती लक्षणा**—प्रयोजनवती लक्षणा का प्रयोग कवि विशिष्ट अभिप्राय से करता है। इसी अभिप्राय या प्रयोजन के कारण इसे प्रयोजनवती लक्षणा कहा जाता है। इस प्रयोजनवती लक्षणा के निम्नलिखित भेद हैं—



(2) **सारोपा गौणी प्रयोजनवती लक्षणा**—सादृश्य सम्बन्ध को गुण कहा जाता है। जहाँ गुण (सादृश्य) सम्बन्ध के कारण लक्षणा हो उसे गौणी लक्षणा कहते हैं। विषय-विषयी के बीच स्पष्ट आरोपण को सारोपा लक्षणा कहते हैं। कुल मिलाकर इसे इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है—

(1) जहाँ सादृश्य सम्बन्ध के कारण आरोप हो।

(2) मुख्यार्थ की बाधा तथा अन्य अर्थ का योग प्रयोजनवश किया गया हो, यथा—

बंदो गुरु-पद-पदुम परागा। सुरुचि सुबास सरस अनुरागा।

(1) पदरज-पद्म—पराग नही हो सकता, अतः मुख्यार्थ की बाधा है।

(2) पद पद्म—मे गुण साम्य है. अतः गौणी है।

(3) पद पद्म—में विषय-विषयि का स्पष्ट कथन है, अत. सारोपा है।

(4) पद पद्म—मे अन्य अर्थ निहित है—पवित्र चरणरज।

साध्यवसाना गौणी प्रयोजनवती लक्षणा—

(1) जहाँ गुण या सादृश्य का सम्बन्ध हो।

(2) जहाँ विषयि—विषय का निगीर्णन कर ले।

(3) इस प्रकार की अर्थगत स्थिति किसी विशेष प्रयोजनवश निर्दिष्ट की जाए। यथा—

विधु को बाँधा किसने है, इन काली जंजीरो से।

(1) चन्द्र तथा मुख एवं केश की वेणी एवं जजीर दोनों के बीच गुण साम्य है।

(2) मुख (विषय: प्रस्तुत) को अप्रस्तुत विधु ने निगीर्णन (निगल) कर रखा है तथा काली जंजीर अप्रस्तुत ने वेणियों का।

(3) यह स्थिति इसलिये की गई है ताकि वेणियो से मण्डित मुख के सौन्दर्य की अद्वितीयता चित्रित की जा सके।

अत: यहाँ साध्यवसाना प्रयोजनवती गौणी लक्षणा है।

शुद्धा लक्षणा

गुण या सादृश्य के अतिरिक्त भी प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत के बीच अनेक सम्बन्ध होते हैं। इन्हे शुद्ध सम्बन्ध कहा गया है, यथा-कार्य करण सम्बन्ध, आधार-आधेय सम्बन्ध, तात्कर्म्य सम्बन्ध आदि। लक्षणा की सिद्धि के लिए जहाँ इस सम्बन्धों को आधार बनाया जाता है, वहाँ शुद्धा लक्षणा होती है।—

(1) **सरोपा शुद्धा लक्षणा**—जहाँ अप्रस्तुत के ऊपर प्रस्तुत आरोपित हो तथा इस आरोपण का आधार सादृश्य से भिन्न अन्य कोई सम्बन्ध है। यथा—

घृत ही आयु है।

(1) घृत आयु के रूप मे आरोपित है।

(2) दोनो के बीच मे कार्य-करण सम्बन्ध है।

(3) इस कथन के पीछे घृत शक्ति का निरूपण प्रयोजन के रूप मे है।

अत. यह सारोपा शुद्धा लक्षणा है।

(2) **साध्यवसाना शुद्धा लक्षणा**—जहाँ प्रस्तुत अप्रस्तुत का निगीर्ण करता हो किन्तु वहाँ सादृश्य के अतिरिक्त अन्य सम्बन्ध आधार के रूप में हों। यथा—

है रिपोर्टों में कलेजा छप रहा,
देश के आनन्द भवनों ने कहा।

'कलेजा' के पीछे निश्छल आत्मबलिदान अप्रस्तुत है।

'आनन्द भवनो' के पीछे देशभक्तों का अप्रस्तुत निहित हैं—जो उन्हें निगीर्ण किये हुए हैं। यहाँ दोनो के मूल मे आधेय-आधार सम्बन्ध है। इसीलिये यहाँ साध्यवसाना शुद्ध लक्षणा है।

उपादान लक्षणा

जहाँ मुख्यार्थ की बाधा के साथ अन्य अर्थ को योग हो, साथ ही, मुख्य अर्थ अपने अर्थ की सिद्धि के लिए अन्य अर्थों को अपने अर्थ के साथ समेटे हुए हो। ध्वनि के अन्तर्गत अजहत् स्वार्था ध्वनि का सम्बन्ध इसी उपादान लक्षणा से ही है। यथा—

सीता हरन तात जनि, कहेउ पिता सन जाइ।
जौ मै राम तु कुल सहित, कहहिं दसानन आइ।

यहाँ 'राम' शब्द का अर्थ 'दशरथ-पुत्र' राम ही नही है। शक्ति सम्पन्न, पत्नी के अपहरण का बदला लेने वाला आदि अनेक अर्थों को अपने मे समेटे हुए है।

लक्षित या लक्षण लक्षणा

मुख्यार्थ की बाधा होने पर अन्य अर्थ की सिद्धि के लिए अपने अर्थ का परित्याग लक्षित या लक्षण लक्षणा है। ध्वनि के अन्तर्गत जहत्स्वार्था के रूप मे इसे स्वीकार किया जाता है। यथा—

बाउ कृपा मूरति अनुकूला। बोलस बचन झरत जनु फूला।

यहाँ 'फूल' शब्द का अर्थ फूल न होकर 'कंटक, कष्ट प्रद, कड़वी बात' आदि है। 'फूल' शब्द दूसरे अर्थ को सिद्धि कराने के लिए अपने अर्थ का त्याग कर रहा है।

सारोपा शुद्धा उपादान लक्षणा—जहाँ मुख्यार्थ की बाधा के साथ अन्य अर्थ का उसके स्थान पर योग हो, विषय एवं विषयि के बीच स्पष्ट आरोप हो, गुण के अतिरिक्त अन्य सम्बन्ध दिखाई पड़े तथा कथित अर्थ अपने अर्थ की सिद्धि के लिए अनेक अर्थों को अपने मे समेटे हुए हो, वहाँ सारोपा शुद्धा उपादान लक्षण होती है। यथा—

चल पड़ें जिधर पग डगमग दो,
चल पड़े उधर पग तीस कोटि।

'डगमग पग' गाँधी जी के लिए तथा 'तीस कोटि पग' तीस करोड भारत-वासियों के लिए आरापित है। पग चलने पर मुख्यार्थ की बाधा से पगधारी का बोध होता है। सादृश्य के स्थान पर यहाँ कार्यकरण सम्बन्ध है।

सारोपा शुद्धा लक्षण लक्षणा—जहाँ मुख्यार्थ की बाधा के साथ अन्य अर्थ को योग इस क्रम मे हो कि विषय एवं विषयि के बीच स्थित आरोप स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ें और अन्य अर्थ की सिद्धि के लिए कतिपय अर्थ अपना परित्याग करें। यथा—

आज बचपन का कोमल पात,
जरा का पीला पात।
चार दिन सुखद चाँदनी रात,
और फिर अंधकार अज्ञात्।

कोमल पात—बाल्यावस्था की कोमलता का सादृश्य है, साथ ही, शैशवावस्था की भावनाओ के निमित्त अपने अर्थ का परित्याग भी कर रहा है। शैशवावस्था के लिए कोमल पात कहना मुख्यार्थ की बाधा है। इसी प्रकार, पीला पात, चाँदनी रात, अधकार अज्ञात् शब्द है।

साध्यवसाना शुद्धा उपादान लक्षणा—जहाँ मुख्यार्थ की बाधा तथा अन्य अर्थ का योग इस प्रकार निमित हो कि विषयि-विषय को निगीर्ण किये हो, सादृश्य के अतिरिक्त अन्य सम्बन्ध हो तथा अपने अर्थ की सिद्धि के लिए अन्य अर्थों को समाविष्ट किये हो। यथा—

आज सारा देश जंगल बन गया है।
दूध से सस्ता लहू क्यों बन गया है।

'दूध' पारस्परिक सम्बन्ध एवं 'लहू' हिंसा आदि के लिए अध्यवसित है। दूध अपने अर्थ की सिद्धि के लिए अन्य अर्थ मनुष्य का जातीय आपसी संबन्ध तथा 'लहू' हिंसा-हत्या आदि अर्थों के अपने में समेटे है। 'दूध' तथा 'लहू' के बीच तात्कर्म्य सम्बन्ध हैं।

साध्यवसाना शुद्धा लक्षण लक्षणा—मुख्यार्थ की बाधा एवं अन्य अर्थ का योग हो। सादृश्य से भिन्न गुण सम्बन्ध के आधार पर विषयि-विषय को निगीर्ण किये हुए हो। यही नहीं, अन्य अर्थ की सिद्धि के लिए कथित अर्थ अपने अर्थ का परित्याग करे, वहाँ साध्यवसाना शुद्धा उपादान लक्षणा दिखाई पड़ती है—

मेरी गोद में उजले कमल, पीले कमल,
अभी कुछ बात मुझसे कर गये हैं,
जाफरानी से धुले सँवरे कमल,

यहाँ 'कमल' शब्द में 'रूपवती' युवती' का बोध हो रहा है। सामीप्य सम्बन्ध है तथा कमल शब्द अन्य अर्थ की सिद्धि के लिए अपने मूल अर्थ का परित्याग कर रहा है।

व्यंजना

ध्वनि सिद्धान्त के प्रचार के पश्चात् व्यंजना शक्ति का सर्वाधिक महत्त्व बढ़ा है। वि + अंजना अर्थात् विशिष्ट अर्थ शक्ति। व्यंजना को निषेधात्मक ढंग से न परिभाषित करके बताया गया है कि जहाँ अभिधा एवं लक्षणा अपनी अर्थ-शक्ति को दीप्त करके शान्त हो जाएँ, फिर भी, मूल अभिप्राय व्यंजित न हो सके, ऐसी स्थिति में वह तीसरी शब्द शक्ति व्यंजना ही है, जो अभीष्ट अर्थ का बोध कराती है।

आचार्य भिखारीदास ने 'काव्य निर्णय' के अन्तर्गत इसे इस प्रकार परि-भाषित किया है—

सूधो अर्थ जु बचन को, तेहि तजि औरे बैन।
समुझि परे ते कहत हैं, शक्ति व्यंजना ऐन।
वाचक लक्षक शब्द ये, राजत भाजन रूप।
व्यंग्यारथहि सुनीर कहि, बरनत सुकवि अनूप।

व्यंग्य वाक्य सामान्य अभिधा या लक्षणा की भाँति लगते हैं। यदि उनके मर्म तक न पहुँचा जाए तो व्यंग्य का आनन्द समाप्त हो जाता है। व्यंजना के विलक्षण अर्थ को अभिधा आदि से भिन्न बताया गया है तथा उसका सम्यक् बोध कराने के लिए निम्नलिखित साधन बताये गये हैं—

वक्तृबोधव्य काकूनां वाक्य वाच्यान्यसन्निधे।
प्रस्तावदेशकालादे वैशिष्ट्य प्रतिभाजुषाम्॥

वक्ता, बोधव्य (संबोध्य), काकु, वाक्य वैशिष्ट्य आदि से व्यंजक अर्थ का बोध होता।

व्यंजना की अधिकांशतया निषेधात्मक परिभाषाएँ मिलती हैं। कविराज विश्वनाथ की परिभाषा इस प्रकार है—

विरत स्वभिधाद्यासु ययाऽर्थो बोध्यते परः।
स वृत्ति-व्यंजना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च॥

अभिधा, लक्षण शक्तियों के विरत हो जाने पर जहाँ अर्थ का बोध न हो और वांछित अर्थबोध के लिए तीसरी शक्ति की आवश्यकता पड़ती है, उसे व्यंजना के नाम से पुकारा जाता है। आचार्य मम्मट ने व्यंजना के स्वभाव को अभिधा तथा लक्षणा से भिन्न निरूपित करते हुए बताया है—

नाभिधा समयाभावात् हेत्वाभावान्न लक्षणा।

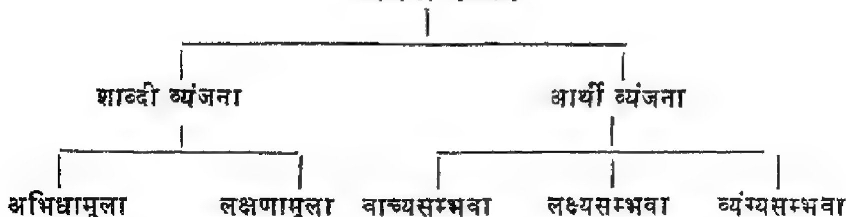
व्याकरण, उपमान आदि संकेतग्रह के साधनों से सिद्ध न होने के कारण वह अभिधा है और मुख्यार्थ बाधा, अन्यार्थ योग के अभाव में वह लक्षणा भी नहीं है, अतः

निरवकाश (अन्य विकल्प के अभाव में) रूप से व्यंजना शक्ति सिद्ध होती है।

यदि दूसरी दृष्टि से विचार किया जाए तो व्यंजना का अर्थ नितान्त स्पष्ट है—अभिधा जहाँ अपनी शक्ति प्रयुक्त करके क्षीण हो जाए और लक्षणा भी अपनी शक्ति का प्रयोग करके क्षीण हो जाए फिर भी मूलार्थ सिद्ध न हो सके और उस मूलार्थ की सिद्धि के लिए अन्य तीसरी अर्थशक्ति का आश्रय लेना पड़े, उसे व्यंजना शक्ति के रूप मे जानना चाहिए।

व्यंजना से सम्पन्न अर्थ को व्यंग्यार्थ, ध्वन्यार्थ, प्रतीयमानार्थ आदि के नाम से पुकारा जाता है। जिन शब्दों एव अर्थों से व्यजना सिद्ध होती है, उसे व्यजक शब्द तथा व्यंजक अर्थ का नाम दिया जाता है। ध्वनि एव व्यंजना मूलतः समानार्थी हैं। ध्वनन व्यापार ही व्यंजना व्यापार है। अभिधा लक्षणा शक्ति शब्द पर आश्रित है किन्तु व्यजना अर्थ पर आश्रित है और यह आश्रित अर्थ स्फुटित एवं ध्वनित अर्थ है।

अनेक विचारक व्यंजना शक्ति को नही मानते। उनके अनुमार अभिधा की तात्पर्य शक्ति से निष्पन्न अर्थ ही व्यंजना है। मीमासक व्यजना से अनुमान शक्ति का ही तात्पर्य निकालते हैं किन्तु आचार्य मम्मट इन तर्कों का खण्डन करते हुए स्पष्ट रूप से व्यंजना के स्वरूप को स्थापित करते हैं। यथा—



शाब्दी व्यंजना

(1) **अभिधामूला शाब्दी व्यंजना**—जहाँ श्लेषादि के आधार पर प्राकरणिक अर्थ के साथ अन्य अप्राकरणिक अर्थ की सम्भावना निकलती है, उसे अभिधामूला शाब्दी व्यंजना कहते हैं। आचार्यों में से कई इसके चमत्कार को अस्वीकार करते है, फिर भी, अप्रकारणिक का अर्थ का चमत्कार सूक्ष्म तो होता ही है। यथा—

> चिरजीवी जोरी जुरै, क्यों न सनेह गंभीर।
> को घटि ये वृषभानुजा, वे हलधर के बीर।

यहाँ वृषभानुजा में वृषभ + अनुजा = गाय एवं हलधर में हल + धर अर्थात् बैल के भी अप्राकरणिक अर्थ निकलते हैं। इस अप्राकरणिक अर्थ के कारण यहाँ शाब्दी व्यंजना है।

(2) **लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना**—जहाँ मुख्यार्थ की बाधा में अन्य अर्थ के योग के बाद भी अर्थ स्पष्ट न हो वहाँ लक्षणा मूला शाब्दी व्यंजना कही जाती है। यथा—

फली सकल मन कामना, लूट्यो अगणित चैन।
आजु अँचै हरि रूप सखि, भये प्रफुल्लित नैन।

'मनोकामना का फलना' और 'चैन लूटना' रूप का आचमन और नेत्रों का प्रफुल्लित होना मुख्यार्थ की बाधा से सम्बन्धित है। किन्तु, नये अर्थ के योग से भी अभीष्ट अर्थ 'मिलन-जन्म सम्पूर्ण सुख भोग' अर्थ की सृष्टि नही हो पाती, अत: व्यंजना का आश्रय लेना पड़ रहा है।

आर्थी व्यंजना

जहाँ व्यंजना का आधार अर्थ विशेष हो, दूसरे शब्दों मे शब्द के अन्य पर्यायवाची शब्दो के प्रयोग के बाद भी व्यंजना का चमत्कार समाप्त नहीं होता, उसे आर्थी व्यंजना कहते हैं। शाब्दी व्यंजना मे अभीष्ट शब्दो में परिवर्तन के बाद उसका व्यंग्य एवं चमत्कार नष्ट हो जाता है।

वाच्य सम्भवा—जहाँ व्यंग्य का आधार साक्षात् संकेतिक अर्थ या अभिधा व्यापार ही हो—

कमल तंतु से छीन अरु, कठिन खड्ग की धार।
अतिसूधो टेढ़ो बहुरि, प्रेम पथ अनियार।

'कमल-तंतु से कोमल' और 'खड्ग की धारा से कृश एवं तीक्ष्ण' कह कर प्रेम की विलक्षणता को व्यंजित कराया जा रहा है।

लक्ष्य सम्भवा—जहाँ मुख्यार्थ की बाधा से भी अर्थ का समाधान न हो और व्यंजना का चमत्कार शब्दगत न होकर अर्थगत ही हो—

बंदउँ खल जस सेष सरोसा। सरस बदन बरनइ पर दोषा।
पुनि प्रनवउँ पृथुराज समाना। पर अघ सुनइ सहस दसकाना।

खल के पास 'सहस्र मुख' एवं दस सहस्र कान' नही होते फिर भी वे छिद्रान्वेषी एवं दूसरो के दोषों में प्रीति रखते हैं। 'शेष' तथा 'पृथुराज' के उदाहरण से उनके इस निन्द्य कार्य की अधिकता को व्यंजित करना कवि का लक्ष्य है।

व्यंग्य सम्भवा—जहाँ व्यंग्यार्थ से व्यंग्यार्थ को व्यंजित कराने की चेष्टा की जाये, वहाँ व्यंग्य संभवा आर्थी व्यंजना होती है—

तुम आनन्द करहु मृग जाये। कंचन मृग खोजन कहुँ आये।

राम को विलाप करते हुए अनेक मृगादि उन्हे शोक सन्तप्त होकर देख रहे हैं। राम लक्ष्मण को सम्बोन्धित करते हुए कहते हैं कि इन भागते हुए मृगों को ढाँढस बँधाती हुई ये मृग स्त्रियाँ कह रही हैं कि हे मृग पुत्र तुम वन मे निर्भय विचरण करो, ये सोने का मृग खोज रहे हैं, तुम्हें नही।

राम कंचन मृग के लोभ से ठगे हुए अपनी ही ग्लानि को प्रकारान्तरोक्ति से व्यंजित करते है।

अभिधा, लक्षणा एवं व्यंजना तीनों में कौन महत्वपूर्ण हैं—

'अभिधा' शक्ति का सम्बन्ध 'रस सिद्धान्त से है,' लक्षणा का सम्बन्ध अलंकार-सिद्धान्त से। व्यंजना ध्वनि सिद्धान्त को प्रकारान्तर से महत्त्व प्रदान करती है। मुख्यत इनकी शक्तियो को प्रकारान्तर भाव से सम्बन्ध रस, अलकार एवं ध्वनि सिद्धान्तो से है। रसवादी आचार्य अभिधा शब्द शक्ति को सर्वोपरि मानते है क्योकि इसके बिना काव्य मे निहित रस का आस्वादन असम्भव है। अलंकार वादी 'चमत्कृति' को ही काव्यत्व का पर्याय मानते हैं और उनके अनुसार अलंकार काव्य एव उनके समग्र सौन्दर्य का मूल हेतु है, इस दृष्टि से उनके अनुसार लक्षणा सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। व्यजनावादी-व्यंजना को ही काव्य की आत्मा मानते हैं। उनके अनुसार अभिधा एवं लक्षणा साधन हैं, साध्य है, प्रतीयमान रूप व्यंग्यार्थ। व्यंजना, उनके अनुसार सर्वोपरि अर्थशक्ति है। किन्तु, गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर यह तथ्य नितान्त स्पष्ट है कि अभिधा शब्दशक्ति सर्वोपरि है—क्योकि सम्पूर्ण अर्थ विधान उसी से उत्पन्न होते हैं—और उसी मे विलीन होते हैं। यदि काव्य का अर्थ बोध न हो तो काव्यत्व कैसा! काव्य का मूल अर्थबोध ही अभिधा है।

9
ध्वनि

ध्वनि की परिभाषा—

सामान्यतया ध्वनि शब्द का अर्थ उच्चरित नाद के लिए होता है किन्तु व्याकारण शास्त्र के अन्तर्गत ध्वनन व्यापार का अर्थ है—व्यंग्य या गम्य या प्रतीयमान व्यापार। आनन्दवर्धन ने अपने 'ध्वन्यालोक' के अन्तर्गत इस सिद्धान्त की स्थापना की। ध्वन्यालोक का दूसरा नाम सहृदयालोक है और आनन्दवर्धन की उपाधि सहृदय की है। उन्होने "ध्वनि" सिद्धान्त की स्थापना करते हुए बताया है—

'प्रथमो विद्वांसो हि वैयाकरणाः। ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति'

अर्थात्, व्याकरणवेत्ता प्रारम्भ से ही श्रूयमाण वर्णों को ध्वनि की संज्ञा देते हैं। आचार्य आनन्दवर्धन ने अपने इस मन्तव्य की पुष्टि के लिए पाणिनि, पतञ्जलि एव कात्यायन की ओर संकेत किया है। पतंजलि ने ध्वनि का उल्लेख करते हुए महाभाष्य में बताया है कि—

"प्रतीत पदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते।

अर्थात्, लोक मे प्रतीत पदार्थ को व्यंजित करने के लिए सुने जाते हुए नाद को ध्वनि के नाम से पुकारा जाता है। इस प्रकार नाद व्यंजक है, पद है, तथा व्यंजक एवं ज्ञाप्य अर्थ उसका प्रयोजन। इस प्रकार ध्वनि एवं ध्वनित अर्थ का मूलाधार व्याकरणशास्त्र तथा व्याकरणदर्शन है। ध्वनि से निष्पन्न अर्थ को प्रतीयमान, व्यंग्य एवं ध्वन्यर्थ के नाम से पुकारा जाता है।

आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि को इस प्रकार परिभाषित किया है—

यत्रार्थः शब्दों वा तमर्थमुपसर्जनीकृत स्वार्थौ।
व्यक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभि कथित।

जहाँ अर्थ अपने स्वयं को अथवा शब्द अपने स्वयं को गौणीभूत (अप्रधान) बनाकर उस अर्थ विशेष को व्यक्त करे उसको तत्त्वदर्शी विद्वान् (वैयाकरण) ध्वनि के नाम से पुकारते हैं। इस परिभाषा में तीन बातें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—

(1) अर्थ एवं शब्द का अपने को गौण बनाना,

(2) एक अन्य प्रतीयमान रूप अर्थ का व्यंजित होना,

(3) परम्परा के विद्वानों द्वारा इस अर्थ का पूर्वकाल से ही स्वीकार करना। इस प्रकार ध्वनि व्यापार का मूलाधार नितान्त प्राचीन है। साथ ही, इसका सम्बन्ध लक्ष्यार्थ एवं अभिधेयार्थ से भिन्न कोटि का है।

"ध्वन्यालोक" ग्रन्थ की सबसे महत्त्वपूर्ण टीका अभिनवगुप्त कृत "ध्वन्यलोकलोचन" है। इस टीका के अन्तर्गत इस प्रतीयमान रूप ध्वनि की व्याख्या करते हुए वे बताते हैं—

(1) ध्वनितीतिध्वनि : अर्थात् जो ध्वनित हो वह ध्वनि है।

(2) ध्वन्यते इति ध्वनि : अर्थात् जो ध्वनित कराए वह ध्वनि है।

(3) ध्वनयति इति ध्वनि अर्थात् जो ध्वनित करता है वह ध्वनि है।

(4) ध्वन्यतेऽस्मिन इति ध्वनि : जिसमें ध्वनित होता है और इन चार प्रक्रियाओं द्वारा ध्वनित की व्यंजित निम्नलिखित तत्त्वों तक है।

व्यंजक शब्द, व्यंजक अर्थ व्यंजना के रसादि हेतु, व्यंग्यशक्ति तथा काव्य—ये ध्वनि के पाँच विस्तार हैं। ये विस्तार सन्दर्भ इस प्रकार हैं—

(1) शब्द रूप ध्वनि—जो ध्वनित होता है या ध्वनित करता है, वह वाचक शब्द ध्वनि है। शब्दशक्ति उद्‌भव का आधार यही तत्त्व है। इसको संलक्ष्यक्रम ध्वनि के नाम से पुकारा जाता है।

(2) अर्थ रूप ध्वनि—जहाँ अर्थ व्यापार से वस्तु, अलंकार परस्पर व्यंजित हो उसे अर्थध्वनि के रूप में स्वीकार किया जाता है।

(3) व्यापार रूप ध्वनि—यह व्यापार रूप ध्वनि अभिधा, तात्पर्य, लक्षणा आदि से भिन्न चतुर्थ व्यापार ध्वनन, द्योतन, व्यंजन, श्रवण आदि रूपों में अर्थ समवाय व्यापार से सम्बद्ध अभिप्राय को व्यक्त करता है।

(4 व्यंग्यार्थ अर्थ—विशेष रूप से व्यंजित वह तत्त्व जिसे असंलक्ष्यक्रम या रस रूप कहा जाता है। यह शब्द, अर्थ व्यापार में निहित होता हुआ भी अनिर्वचनीय तत्त्व के रूप में सहृदय के हृदय में आलोकित तथा आभाषित होता है। इसके लिए अन्तिम प्रमाण सहृदय का हृदय होता है।

(5) **समुदाय रूप ध्वनि**—प्रबन्ध ध्वनि ही अंतिम समुदाय रूप ध्वनि है। काव्य के उद्देश्य एवं अङ्गिन् रस के रूप में अभिव्यक्त तत्त्व इसी समुदाय रूप ध्वनि का उदाहरण माना जाता है।

आचार्य मम्मट ने ध्वनि को इस प्रकार परिभाषित किया है—

वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्य के अधिक चमत्कारयुक्त होने पर उत्तम काव्य होता है। इस काव्य को विद्वानो ने उत्तम काव्य माना है।

क्या ध्वनि काव्यात्मा है—

ध्वनि काव्य की आत्मा है, यह आनन्दवर्धन की विशेष स्थापना है। इस स्थापना को सिद्ध करने के लिए उन्होने तीन आधारो का आश्रय ग्रहण किया है—

(1) पूर्ववर्ती मतवादियो के सिद्धान्तो के खण्डन द्वारा,

(2) व्यंग्य रूप प्रतीयमान अर्थ को शब्द तथा अर्थ के लक्ष्यभूत तत्त्व के रूप मे स्थापना द्वारा।

(3) काव्य के शेष सिद्धान्तो के ध्वनि के अन्तर्गत समाहार द्वारा।

(1) **पूर्ववर्ती मतवादियों के सिद्धान्तों के खण्डन द्वारा**—आचार्य आनन्दवर्धन अपने पूर्ववर्ती तीन ध्वनि विरोधी मतो का उल्लेख करके उसका खण्डन करते हुए ध्वनि की निर्भ्रान्त शब्दों मे स्थापना करते हैं।

(क) प्रथम वर्ग अभाववादियो का है। ये स्वीकार करते हैं कि ध्वनि का अस्तित्व ही नही हैं। ध्वनि है, इसका व्याकरणदर्शन है और इसीलिए ध्वनि के अस्तित्व का आनन्दवर्धन ऐतिहासिक आधार देते है। व्याकारण दर्शन मे निहित स्फोटवाद ध्वनि का मूलाधार है। यही नही; आनन्दवर्धन की परिभाषा ध्वनि के अभाववादियो के तर्कों के खण्डन के लिए दी गई है। कविता मे शब्द और अर्थ उसका अभिप्राय नही बन सकते, उसका अभिप्राय तो प्रतीयमान ही है जो "अंगना लावण्य" की भाँति काव्य के शब्दार्थ शरीर मे स्थित होता हुआ भी श्रेष्ठतम तत्त्व के रूप में उनसे पृथक् भाषित होता है। इस प्रकार, अभिप्राय रूप तत्त्व ही काव्य की आत्मा है।

ध्वनि के विरोधियों का मत है कि ध्वनि का अन्तर्भाव लक्षण शब्दशक्ति मे जाता है। मूलत यह सिद्धान्त आलंकारिकों का है। आलंकारिक अलकार को ही सर्वस्व मानते है किन्तु ध्वनिवादी आचार्य लक्षणा शक्ति एवं अलंकारों को ध्वनि का एक भेद मानते हैं। अलंकार मूलाध्वनि या अलकार से अलंकार, अलकार से वस्तु एव वस्तु से अलकार का ध्वनन मूलत: सिद्ध करता है कि अलंकार रचना का लक्ष्य न होकर उसका साधनभूत तत्त्व ही है। यही नही, ध्वनिवादियों ने लक्षणा शक्ति को

ध्वनि का एक भेद मानकर उसे "लक्षणामूला ध्वनि" की संज्ञा दी है। अतः लक्षणा से ध्वनि का समाहार सम्भव नहीं है। स्वयं लक्षणा ध्वनि के भेद के अन्तर्गत है।

ध्वनि के तीसरे विरोधी मत यह स्वीकार करते है कि ध्वनि का अस्तित्त्व तो है किन्तु वह विश्लेषण का विषय नही है। यह तर्क भी मिथ्या है। ध्वनि केवल अनुभव का विषय नही, रचना मे अभिप्राय रूप मे स्थित अपने सम्पूर्ण हेतुओ, भेदों तथा तत्त्वों के साथ प्रतीति का भी विषय बनता है। संलक्ष्य एवं असंलक्ष्यक्रम भेदो की स्थिति के अन्तर्गत उन्होंने ऐसे रचनाभिप्रायो को स्पष्ट किया है जो नितान्त सूक्ष्य एवं पाठक के लिए आस्वादन के विषय मात्र है। इस ध्वनि का भी विवेचन दूसरी दृष्टि से किया गया है। अतः यह कहना कि ध्वनि केवल अनुभव का विषय है, उचित नहीं है। ध्वनि पूर्णत. विश्लेष्य एव विवेच्य है।

ऐसी स्थिति मे ध्वनि की अनिवार्यता के लिए ये दिए गए तर्क उसके महत्त्व के विषय से सम्बन्धित हैं।

ध्वनिवादी आचार्य अर्थरूप अभिप्राय को काव्यात्मा के रूप मे प्रतिष्ठित करते हैं। वे इसे स्पष्ट करते हुए कहते है—

अर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मा यो व्यवस्थितः।
वाच्य प्रतीयमानाख्यौ तस्यभेदावुभौ स्मृतौ॥

सहृदय श्लाघ्य होने के कारण ही काव्य की आत्मा के रूप मे स्वीकृत और उनके वाच्य तथा प्रतीयमान रूप दो भेद होते हैं। काव्य का अस्तित्त्व प्रतीयमान अर्थ के कारण है, वही काव्य का साध्य है और इस साध्य अर्थ का हेतु वाच्यार्थ है। इस प्रकार वाच्यार्थ से साधित काव्य का अभिप्राय रूप अर्थ ही काव्यात्मा है। वाच्य चूँकि इस वाच्यार्थ का आधार ,है, अतः अपनी अपरिहार्यता के कारण वाच्य भी काव्यात्मा जैसा है, क्योंकि ध्वनिभेद के अन्तर्गत यह भी अन्तर्भुक्त है।

काव्यात्मा को सिद्ध करने के लिए आनन्दवर्धन ने तीसरा तर्क ध्वनि मे शेष सिद्धान्तो के समाहार द्वारा सिद्ध किया है। आचार्य आनन्दवर्धन तक रीति, गुण, अलंकार तथा रस सिद्धान्तो की स्थापना हो चुकी थी। इस सिद्धान्त को आनन्दवर्धन ध्वनि के मूल मे स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार यदि ध्वनि काव्यात्मा है तो ध्वनि की आत्मा रस है। ध्वनिवादियो ने यदि ध्वनि को आत्मा माना है तो रस को परमात्मा स्वरूप। अभिनवगुप्त के अनुसार—परमब्रह्मास्वाद ब्रह्मचारित्वं चास्तत्त्वस्य रसास्वादस्य। इस प्रकार रस के अस्तित्त्व को ध्वनि से सम्पृक्त करके ध्वनिवादियो ने न केवल ध्वनि को उपकृत किया अपितु स्वयं रस की भी एक संगत तथा कलात्मक व्याख्या प्रस्तुत की। गुण, रीति तथा अलंकार ध्वनि के लिए

आधारभूत तत्त्व तथा वाच्य के अभिन्न अंग हैं। आनन्दवर्धन ने अभिधामूला ध्वनि के अन्तर्गत संलक्ष्यक्रम के रूप में गुण के अस्तित्व को स्वीकार किया है। उन्होंने गुण के सन्दर्भ मे बताया है कि गुण अन्ततया रसध्वनि को अपने स्वभाव से व्यंजित करते हैं—

(1) माधुर्यगुण—चित्त में आह्लाद की उत्पत्ति—शृंगार रस

(2) प्रसादगुण—चित्त विगलन—शृंगारादि सम्पूर्ण रस

(3) ओज गुण—चित्त की दीप्ति—वीर तथा रौद्र रस तथा विक्षोभ।

इस प्रकार समस्त रस गुणों के द्वारा सहज व्यंग्य होते हैं और गुण भी संलक्ष्यक्रम द्वारा रस रूप ध्वनि के मूल तत्त्व को प्रकाशित करते हैं।

आचार्य आनन्दवर्धन ने रीति को "पदसंघटना धर्म" के नाम से पुकारा है। वर्ण तथा पद मिलकर संघटना का निर्माण कार्य करते हैं। वर्ण, पद, पदांश वाक्य आदि संघटना के धर्म हैं। पद संघटना गुण का निर्माण करते हैं तथा गुण रस तक पहुँचने के प्रत्यक्ष माध्यम हैं। यह क्रम इस प्रकार है—

वर्ण, पद, पदांश, वाक्य=पदसंघटना (रीति) गुण=रस और इस प्रकार आनन्दवर्धन के अनुसार रीति या पद संघटना अपने धर्मों के माध्यम से गुण का आलम्बन ग्रहण करके ध्वनि रूप काव्य व्यंग्य को अभिव्यक्त करने का कार्य करती है। वह ध्वनि के अन्तर्गत पूर्णरूपेण समाहित है।

अलंकार भी गुण तथा रीति की भाँति ध्वनि मे अन्तर्भुक्त है। ध्वनि के सिद्धान्त की स्थापना का मूल लक्ष्य ही अलंकार सिद्धान्त के बढ़ते हुए महत्त्व को समाप्त करके उसे अपने मे समाहित कर लेना मात्र था। कारण यह कि अलंकार रचना का मुख्य लक्ष्य अलकार रचना नही है। अलंकार रचना का मुख्य लक्ष्य किसी अन्य अभिप्राय को व्यंजित करना है। यही व्यंजित तत्त्व ही ध्वनि है। इस दृष्टि से अन्य ध्वन्येतर सिद्धान्तो की स्वायत्तता का खण्डन करते हुए आचार्य अभिनवगुप्त शेष सिद्धान्तों का समाहार ध्वनि सिद्धान्त में करते हैं। उनके इस समाहार का मन्तव्य ध्वनि को सर्वोच्चता के साथ प्रतिष्ठित करना रहा है। इसी सर्वोच्चता के क्रम मे ध्वनि सम्पूर्ण सिद्धान्तों को आत्मसात् करके रस रूप मे स्थित काव्य की आत्मा है।

ध्वनि के भेद—

आनन्दवर्धन ने ध्वनि को तीन भागों मे विभाजित किया है—

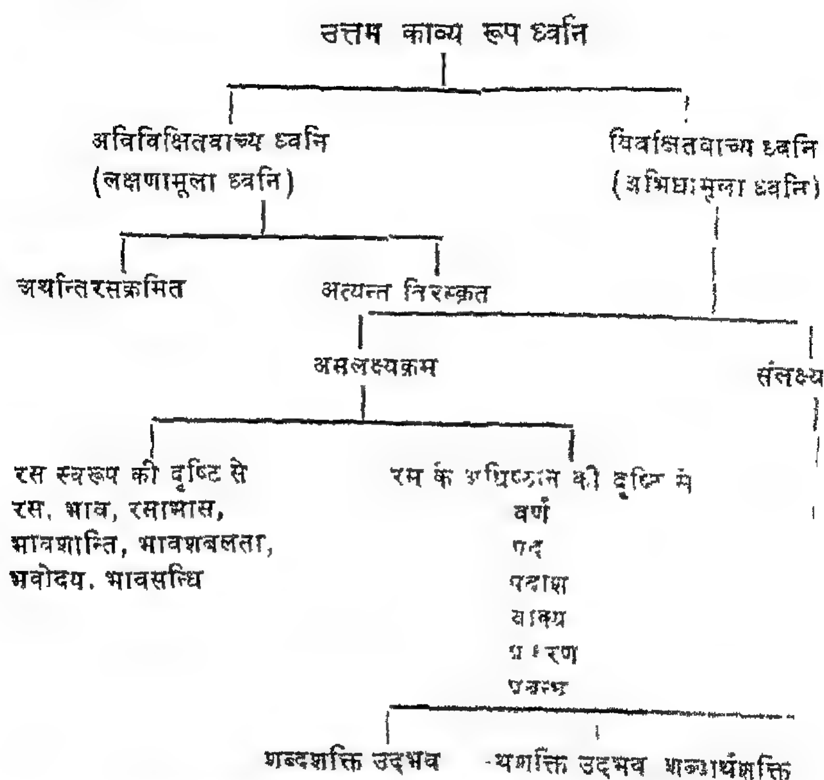
(1) उत्तम काव्य रूप ध्वनि

(2) मध्यम काव्य रूप गुणीभूत व्यंग्य

(3) अधम काव्य रूप चित्रकाव्य

उत्तम काव्य रूप ध्वनि के भेद

उत्तम काव्य रूप ध्वनि के प्रमुख भेद इस प्रकार निर्दिष्ट किए सकते हैं—



(1) अविवक्षित वाच्य ध्वनि—जहाँ मुख्यार्थ की बाधा के फल शब्दार्थ अपना मूल अर्थ न देकर या अन्य अर्थ में संक्रमित कर जाए या तिरस्कृत हो जाए। इसके दो भेद हैं, अर्थान्तर संक्रमित एवं अत्यन्त तिरस्कृत

अर्थान्तर संक्रमित—जहाँ वाच्यार्थ के बाधित या अनुपपन्न होने से एक अर्थ दूसरे अर्थ में संक्रमित कर जाए, यथा—

कैसे पूजूँ गुमराही को मैं हूँ एक सिपाही

यहाँ सिपाही शब्द का अर्थ कर्तव्यपरायण शक्ति है जो मूलतः सिपाही का न देकर कर्तव्यपरायणशक्ति व्यक्ति के अर्थ में संक्रमित हो जाता है।

अत्यन्त तिरस्कृत—जहाँ मुख्यार्थ की बाधा के फलस्वरूप वह अर्थ अपने से भिन्न अर्थ देने लगे अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि है। जैसे—

तुम्हारी आँखों का आकाश सरल आँखों का नीलाकाश।
खो गया मेरा खग अनजान मृगेक्षणि इनमें खग अज्ञान।।

यहाँ "खग" शब्द का पक्षी अर्थ अत्यन्त तिरस्कृत होकर "संसक्त मन" का अर्थ दे रहा है।

(2) विवक्षित वाच्य ध्वनि —जहाँ वाच्यार्थ की स्थिति स्पष्ट रूप से प्रतीत होते हुए द्योतित अर्थ उसके क्रम में अभिव्यक्त हो उसे विवक्षितवाच्य ध्वनि या विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि या अभिधामूला ध्वनि कहते हैं। इसके भी दो भेद है—(क) सलक्ष्यक्रम, (ख) असलक्ष्य क्रम

(क) असंलक्ष्यक्रम ध्वनि (रस ध्वनि)—इसका अपना नाम रस ध्वनि है और यह शतपत्री भेद न्याय से सिद्ध होता है। जैसे शतपत्र (कमल) की पंखुरियों को सूची से विद्ध करने पर यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि कौन-सी पंखुरी कब विद्ध हुई, किन्तु विद्ध अवश्य होती है उसी प्रकार काव्य के आस्वादन के क्षणों में हृदय कब रसासिक्त हुआ, यह कह सकना कठिन है किन्तु यह सत्य है कि हृदय रसविद्ध अवश्य है, इस स्थिति को देखते हुए उसे असंलक्ष्यक्रम ध्वनि (रस ध्वनि) की संज्ञा दी जाती है। रस किसमें व्यक्त होता है, इस दृष्टि से इसके छः भेद वर्ण, पद, पदांश, वाक्य, प्रकरण, प्रबन्ध किए जाते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार रस संज्ञा वर्ण से लेकर प्रबन्ध पर्यन्त रहती है। यही नहीं, रस को अभिव्यक्ति करने में इनमें से सभी तत्त्व समर्थ होते हैं। यथा—

नैन नचाइ कही मुसकाइ लला फिर आइयो खेलन होरी"

इस काव्य वाक्य में पदांश, फिर "आइयो खेलन होरी" ही रस निष्पत्ति कराने में समर्थ है। मुक्तक आदि काव्यों में ये सभी पूर्ववर्ती तत्त्व रसनिष्पत्ति में सहायक होते है। प्रबन्ध ध्वनि एक तरह से महाकाव्यों/खण्डकाव्यों में निहित "अङ्गित रस" है।

असंलक्ष्यक्रम के अन्तर्गत रसादि की स्थिति किस रूप में व्यक्त होती है, यह भी ध्वनि व्यापार का एक अंग है और इसी के अन्तर्गत रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशबलता, भावोदय, भावसन्धि, भावशान्ति की स्थिति आती है। विभावानुभावव्यभिचारिसंयोग से निष्पन्न होना रस ध्वनि है। मात्र किसी एक भाव विशेष की अभिव्यक्ति भाव है। अनौचित्यपूर्ण होते हुए रस वर्णन यथा प्रकृति का प्रेमालाप, देवताओं की रति आदि रसाभास है। भावाभास की स्थिति भी इसी अनौचित्यपूर्ण भाववर्णन की है। किसी विरोधी भाव के आ जाने से मूल भाव का

रुक जाना भावशान्ति है जैसे शृंगार प्रकरण में क्रोध उत्पन्न हो जाने के कारण शृंगार उपशमित हो जाता है। समान उत्कर्ष वाले भावों का एक साथ वर्णन भावशबलता है। दो समान प्रवृत्ति वाले भावों का संगम भावसन्धि है। किसी एक भाव के शान्त होते ही चमत्कारपूर्ण रीति से अन्य भाव का उदय भावोदय है।

संलक्ष्यक्रम ध्वनि (अर्थ एवं अलंकार ध्वनि या अनुकरण ध्वनि)—जहाँ अभिव्यक्त अर्थ के लिए वाच्यार्थ का स्पष्ट बोध परिलक्षित हो उसे संलक्ष्यक्रम अनुरणन ध्वनि कहते है। इसके अन्तर्गत अलंकार, कवि कल्पना, काव्य रूढियों तथा कविसमयों के चमत्कार से उत्पन्न अर्थ वैशिष्ट्य को सम्मिलित किया जाता है। इसके तीन भेद हैं—शब्दशक्ति उद्भव, अर्थशक्ति उद्भव, शब्दार्थशक्ति उद्भव।

(क) शब्दशक्ति उद्भव—जहाँ शब्द व्यापार की रमणीयता के फलस्वरूप वस्तु या अलंकार की चमत्कारिक प्रतीति हो। इसके परस्पर व्यंग्य–व्यंजक भाव से तीन भेद किए जाते है—वस्तु से वस्तु, वस्तु से अलंकार, अलंकार से अलंकार।

(ख) अर्थशक्ति उद्भव—जहाँ कवि कल्पना व्यापार की (रमणीयता एवं काव्य प्रौढि) तथा कविसमय से सम्बन्धित चमत्कारपूर्ण अर्थ की अभिव्यक्ति होती है, उसे अर्थशक्ति उद्भव संलक्ष्यक्रम ध्वनि कहते हैं। इसके तीन भेद है—स्वत सम्भवी, कवि प्रौढोक्ति सिद्ध, कवि निबद्धमानपात्र प्रौढोक्ति सिद्ध।

शब्दार्थ शक्ति उद्भव—जहाँ वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ को एव व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ को या वस्तु अलंकार को एवं पुनः अलंकार वस्तु को परस्पर चमत्कार भाव व्यंजित करे वहाँ शब्दार्थ शक्ति उद्भव मूल संलक्ष्यक्रम ध्वनि है।

मध्यम काव्य रूप ध्वनि भेद (गुणीभूत व्यंग्य)

आचार्य आनन्दवर्धन ने गुणीभूतव्यंग्य को गौणीभूतव्यंग्य भी कहा है। जहाँ व्यंग्य उत्तम काव्य रूप ध्वनि की तुलना में मध्यम श्रेणी का हो वहाँ गुणीभूत व्यंग्य की स्थिति पाई जाती है। आनन्दवर्धन ने गुणीभूतव्यंग्य को इस प्रकार परिभाषित किया है—

प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यंग्यः काव्यस्य दृश्यते।
यत्र व्यंग्यान्वये वाच्य चारुत्वं स्यात् प्रकर्षवत्॥

अर्थात्, काव्य का दूसरा भेद गुणी भूतव्यंग्य है, जहाँ वाच्य व्यंग्य से सम्बद्ध होकर उत्कर्षवान् हो उठता है। मूलतः गुणीभूत का चमत्कार "संयोग चमत्कार" है और इस संयोग में वाच्य का व्यंग्य से सम्बद्ध होना आवश्यक है। व्यंग्य के समान ही इस अर्थ की प्रतीति सहृदय को ही होती है। आचार्य मम्मट ने इसे

परिभाषित करते हुए बताया है कि स्फुट वाच्य के कारण जहाँ व्यंग्य की चमत्कृति प्रतीति होती है, वह गुणीभूत व्यंग्य है। पण्डितराज जगन्नाथ वाच्य की इस प्रतीति को उत्तम श्रेणी का काव्य माना है और आचार्य अभिनवगुप्त ने गुणीभूत-व्यंग्य को सम्पूर्ण अलंकारों के कारण भूत तत्त्व के रूप में मान्यता प्रदान की है। आचार्य आनन्दवर्धन ने इसे आठ भागों में विभक्त किया है—

(1) **अगूढ़**—जहाँ व्यंग्य अत्यधिक स्पष्ट एवं व्यवहार प्रचलित होने के कारण वाच्य की भाँति प्रतीत होने लगता है। चमत्कार होते हुए भी निरन्तर प्रचलन के कारण उसके चमत्कार पर दृष्टि नहीं जाती—

पहुला हाट लिये लसैं, सन की बेंदी भाल।
राखत खेत खरी-खरी खरे उरोजनि बाल।।

खरी-खरी (खड़ी-खड़ी) में नायक की प्रतीक्षा व्यंजित है किन्तु प्रचलन-वशात् यहाँ स्थित अत्यन्त सामान्य प्रतीति होती है।

(2) **अपरांग**—जहाँ रस रूप ध्वनि या वाच्यार्थ रूप ध्वनि वाच्य का ही अंग बन जाता है, वहाँ अपरांगगुणीभूत व्यंग्य की स्थिति मिलती है—

तव बल नाथ डोल निज धरनी। तेजहीन पावक ससि तरनी।।
सेस कमठ सहि सकहिं न भारा। सो तनुभूमि परेउ या छारा।।

यहाँ शौर्य (वीरोत्साह) करुण का अंग है जो वाच्य द्वारा व्यथित है।

(3) **वाच्यसिद्ध्यंग**—जहाँ व्यंग्यार्थ, वाच्यार्थ को सिद्ध करने का हेतु बनता है, उसे वाच्यसिद्ध्यंग नामक गुणीभूत व्यंग्य कहा जाता है। इसमें व्यंग्य हेतु है, वाच्य परिणाम। यथा—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु नहिं विकास यहि काल।
अली कली ही सों बँध्यो आगे कौन हवाल।।

यदि महाराज जयसिंह को प्रबोधक देना व्यंग्य है तो भ्रमर एवं कली का अर्थ वाच्य हो जाएगा। यदि रस लम्पट नायक का अल्पवयस्का से ससक्ति का चित्रण है तो भी वर्णन बहाना मात्र समझा जाएगा। सामान्य स्तर पर अर्थ केवल भ्रमर तथा कली तक ही सीमित रह सकता है।

अस्फुट—जहाँ नितान्त गूढ़ होकर समझने में अत्यधिक जटिलता का अनुभव कराए, वहाँ अस्फुट व्यंग्य है।

तुल्य प्राधान्य—जहाँ व्यंग्यार्थ तथा वाच्यार्थ के चमत्कार में एक सदृश-तुल्यता वर्तमान हो, उसे तुल्य प्रधान गुणी भूत व्यंग्य कहा जाता है।

प्रगट चले द्विजराज कुल सुबस बसे ब्रज आय।
मेरे हरौ कलेस सब केसो केसोराय।।

केशव (कृष्ण) तथा केशवराय (कवि-पिता) दोनो को समान स्तर पर व्यंजित किया गया है।

काक्वाक्षिप्त—कण्ठगत विशेषता के द्वारा जहाँ सामान्य रूप मे व्यंग्य न प्रतीत हो फिर भी प्रतीत करा दिया जाए—

मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू।
तुमहि उचित तप मो कहँ भोगू।।

व्यंग्यार्थ कण्ठगत वैशिष्ट्य से निकल रहा है।

असुन्दर—जहाँ वाच्य का चमत्कार व्यंग्य से अधिक सुन्दर हो, वहाँ असुन्दर नामक गुणीभूतव्यंग्य की स्थिति पाई जाती है।

अधमकाव्य रूप ध्वनि भेद (चित्रकाव्य)

ध्वनि सिद्धान्त के अन्तर्गत अवर काव्य को चित्र काव्य की संज्ञा दी जाती है। यह कविता नही कविता की प्रतिकृति (चित्र) है। इस प्रकार व्यंग्यरहित काव्य को चित्र काव्य की संज्ञा दी जाती है। इसीलिए इसे हीन कोटि की कविता की संज्ञा दी गई है। पण्डित राज जगन्नाथ ने अर्थ तथा शब्द के चमत्कार मे अन्तर करते हुए अर्थ चमत्कार युक्त चित्रकाव्य को मध्यम एवं शब्दयुक्त चमत्कार को अधम कोटि की कविता की संज्ञा दी है। सामान्य रूप से चित्रकाव्य में वाच्य की प्रधानता होती है और कविता का लक्ष्य चमत्कार प्रदर्शन होता है। इस चित्रकाव्य को दो भागो मे विभक्त किया जाता है—(1) शब्द चित्र, (2) अर्थ चित्र।

10
वक्रोक्ति सिद्धान्त

वक्रोक्ति का इतिहास

ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना के बाद अलंकार के महत्व को सामान्य सिद्ध किए जाने पर आलंकारिकों ने वस्तुनिष्ठ सिद्धान्त रूप आलंकारिक चमत्कृति को वक्रोक्ति का आवरण देकर एक नये रूप में प्रतिष्ठित किया। ध्वनिवादियों के अनुसार ध्वनि तथा रस का प्रमाण सहृदय (पाठक) का हृदय है किन्तु आलंकारिकों के अनुसार रचना के वैशिष्ट्य का आधार स्वयं रचना है। रचना के अन्तर्गत स्थापित रचना का कलात्मक वैशिष्ट्य है। इस कलात्मक वैशिष्ट्य को आलंकारिकों ने रचना का एकमात्र और अन्तिम प्रमाण माना है। वक्रोक्ति के अन्तर्गत अलंकारवादियों ने रचना के सम्पूर्ण विन्यास को विवेच्य विषय बनाया। चूँकि उनके पूर्ववर्ती ध्वनिवादियों ने ध्वनि की व्याप्ति के सम्बन्ध में इस प्रकार का दृष्टिकोण अपनाया था, अतः इन्होंने भी इसके समानान्तर वर्ण से प्रबन्ध पर्यन्त सम्पूर्ण विन्यास, सम्पूर्ण प्रणालियों तथा अभिव्यक्ति रूपों को इसमें समाविष्ट किया। यह मूलतः अलंकार सिद्धान्त की एक शाखा है अतः अनेक विवेचक इसका भिन्न रूप से साम्प्रदायिक विवेचन नहीं करते।

वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग वैसे आचार्य कुन्तक के पूर्व अनेकशः हुआ है। यह शब्द सर्वप्रथम बार आचार्य भामह द्वारा प्रयुक्त किया गया। आचार्य भामह ने इसे अलंकारत्व के मूल हेतु के रूप में स्वीकार किया। इसके पश्चात् आचार्य दण्डी ने स्वभावोक्ति एवं वक्रोक्ति इन दोनों को वाङ्मय का दो आधार बताया और साथ ही यह भी निर्दिष्ट किया कि स्वभावोक्ति तथा वक्रोक्ति वाङ्मय के दो प्रकार हैं। आचार्य दण्डी के पश्चात् कई आचार्यों ने इसे मात्र वक्रोक्ति अलंकार तक सीमित कर दिया किन्तु आचार्य भोज ने सम्पूर्ण वाङ्मय को स्वभावोक्ति वक्रोक्ति तक रसोक्ति के रूप में विभक्त किया। उनका प्रसिद्ध वाक्य है—

"स्वभावोक्तिश्च, वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च वाङ्मयम्"

आचार्य वामन ने "सामान्य लक्षणा वक्रोक्तिः" कहकर अलंकार से वक्रोक्ति के सम्बन्ध को इंगित किया है। आचार्य अभिनवगुप्त आलंकारिक चमत्कृति के आधार रूप अतिशयता को वक्रता के नाम से पुकारा है।

इसी वक्रता रूप अतिशयता जो सम्पूर्ण अलकारों के प्राणभूत तत्त्व के रूप मे है, को वक्रोक्ति का व्यापकफलक देकर आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित किया।

वक्रोक्ति की परिभाषा तथा स्वरूप—आचार्य कुन्तक ने काव्य मे "अलंकृति"[3] या अलंकार तथा अलंकार्य इन तत्त्वो को स्थापित किया है। अलंकार का अर्थ है, रचना का अप्रस्तुतधर्म एवं अलंकार्य का तात्पर्य है—प्रस्तुत धर्म। मूलतः काव्य अलंकार एवं अलंकार्य के परस्पर सक्रमणधर्मिता का नाम है। इस अलंकार एवं अलंकार्य को स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्तक ने बताया है कि—

अलंकृतिरलंकार्यमपोद्धृत्य विवेच्यते।
तदुपायतया तत्त्वं सालकारस्य काव्यता॥

इस प्रकार, रचना में अलंकार साधनभूत तत्त्व है और अलंकार्य साध्यभूत। ध्वनि के आधार पर आचार्य कुन्तक ने अलंकार एवं अलंकार्य के बीच वाचक-वाच्य रूप सम्बन्ध स्थापित किया है।

(1) वाचक रूप रीति—अलंकार = वाच्य रूप रीति, गुण, अलंकार आदि अलंकार्य

(2) वाचक रूप अलंकार = वाच्य रूप रीति, गुण, अलंकार, अलंकार्य

(3) वाचक रूप रसवत अलंकार = वाच्य रूप रीति, गुण, अलंकारादि

इस प्रकार परस्पर मिले हुए अभिन्न भाव से अलंकार एवं अलंकार्य काव्य की सृष्टि करते हैं। इसी प्रकार वाच्य तथा वाचक रूप अलंकार एवं अलंकार्य परस्पर अलंकार्य एवं अलकार बनकर जिस काव्यसौन्दर्य की सृष्टि करते है वह वक्रोक्ति है—

उभावेतौ अलंकार्यौ तयो पुनरालंकृतिः।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगीभाणतिरुच्यते॥

उनके अनुसार वक्रोक्ति "वैदग्ध्यभगीभणिति" है।

"वैदग्ध्यभंगीभणिति" को स्पष्ट करते हुए उन्होने बताया है कि—"वैदग्ध्य विदग्धभाव. कविकर्मकौशलं तस्य भंगी विच्छत्तिः तथा भणितिः। वैचित्र्याभिधा वक्रोक्तिरितियुच्यते।"

प्रसिद्ध कथन से भिन्न विशिष्ट या विचित्र कथन ही अभिधा है। वैदग्ध्य का अर्थ है—कवि कर्म कौशल से उत्पन्न चमत्कारात्मक वैचित्र्य या सौन्दर्यातिशयता इस सौन्दर्यातिशयता की विलासपूर्ण अभिव्यक्ति ही उसकी भंगिमा है। इस विलास-भंगिमा का कथन ही कविता है और वही वक्रोक्ति है।

इस प्रकार पूर्ववर्ती किसी भी कवि के द्वारा कल्पित, कथित तथा अभिव्यक्त वाणी के वाह्य (अलंकार) एवं आन्तरिक (शब्द+अर्थ) के अभिन्न सौन्दर्य में निहित काव्यविधान ही वक्रोक्ति है।

इस वक्रोक्ति का निर्माण नितान्त सरल नहीं है। यह किसी अपूर्व कवि की विदग्धता का प्रतिफल है। उन्होंने इस तथ्य को बार-बार स्पष्ट किया है—कवि-प्रतिभा से संस्कारित कवि कविकर्म कौशल्यजन्य वाणी-विलास की सौन्दर्यातिशयता ही वक्रोक्ति है।

वक्रोक्ति के तत्त्व

आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति के अन्तर्गत चार तत्वों को विशेष महत्त्व दिया है—

(1) **वाच्य सौन्दर्य**—आचार्य कुन्तक ने इसके अन्तर्गत वर्णविन्यास, रीति, अलंकार, गुण, काव्यरूप सभी को समाविष्ट किया है। इस प्रकार पद से लेकर प्रबन्ध तक तथा समस्त स्वाभावोक्ति एवं वर्ण्य विषय इस वक्रोक्ति के अन्तर्गत समाविष्ट हैं।

(2) **वाचक-सौन्दर्य**—वाच्य विधायक समग्र तत्त्व रचना के अन्तर्गत वक्रोक्ति है। वर्ण, पद, संज्ञा, क्रिया, विशेषण, अव्यय, तद्धित, कृदन्त, वाक्य आदि जो काव्य रचना के भाषिक आधार हैं, इस वाचक सौन्दर्य के अन्तर्गत वक्रोक्ति का विधान करते हैं। यही नहीं, रचना के सम्पूर्ण विधान चाहे गुण हो या मार्ग (रीति) या अलंकार सभी के-सभी कवि कर्म कौशल के साथ जुड़कर वक्रोक्ति के रूप में प्रकट होते हैं।

(3) **कवि-कर्म-कौशल**—कविता अपने आप में एक कलात्मक सृष्टि है और इसीलिए इसका सम्बन्ध कवि-कर्म-कौशल से जुड़ा है। कवि कर्म कौशल के माध्यम से वक्रोक्तिकार कुन्तक रचना के उस वैशिष्ट्य को इंगित करना चाह रहे हैं, जो उसमें विशिष्ट धर्म अपनी अपूर्वता के कारण पाठक का ध्यान हठात् आकर्षित कर लेता है, वही वक्रोक्ति है।

(4) **कवि प्रतिभा**—उपर्युक्त तीनों तत्त्वों का कारण कवि प्रतिभा है। कवि प्रतिभा स्वभाव का अंग है, जो नैसर्गिक है। अभ्यास से इस नैसर्गिक प्रतिभा को कवि माँजता है ताकि रचना में विशिष्ट कौशल व्यक्त कर सके। प्रतिभा को परि-भाषित करते हुए उन्होंने बताया है

"प्राक्तनाद्यतनसंस्कारपरिपाकप्रौढ़ा प्रतिभाकाचिदेव कविशक्ति"

उन्होंने संस्कार को दो भागों मे विभक्त किया है। एक वह जो पूर्वजन्म का है—इस पूर्वजन्म के संस्कार को कवि अभ्यास, व्युत्पन्नता एव शास्त्र ज्ञानादि के माध्यम से निरन्तर प्रखर बनाता रहता है और यही प्रखरता उसमें नए संस्कार को जन्म देता है। पूर्व संस्कार से ही परवर्ती संस्कार प्रौढ़ होते है।

इस प्रकार वक्रोक्ति सिद्धान्त इन चारो तत्वो के संयोग का परिणाम है।

वक्रोक्ति के भेद

वक्रोक्ति को सामान्यतया निम्नलिखित भागों मे विभक्त किया जाता है—

(1) **पदपूर्वार्ध वक्रता**—पूर्वपद के अन्तर्गत जो भी तत्व है, उदाहरणार्थ क्रिया, लिंग, वचन आदि उत्पन्न किया गया कवि द्वारा कौशल ही पूर्वपदार्ध वक्रता है। इसके निम्नलिखित भेद हैं—(1) रूढ़ि वक्रता, (2) पर्याय वक्रता, उपचार एवं विशेषण वक्रता इसी के भेद है, (3) सवृत्त वक्रता, (4) लिंग वक्रता, (5) क्रिया-वैचित्र्यवक्रता, (6) वृत्तिवैचित्र्यवक्रता।

(2) **पदपरार्ध वक्रता** के भेद इस प्रकार हैं—संख्या वैचित्र्य, कारकवैचित्र्य, पुरुष वैचित्र्य, पदमध्यवक्रता, कालवैचित्र्य, उपग्रह वक्रता।

(3) **वाक्य वक्रता**—इसके तीन भेद हैं—(1) सुकुमार, (2) मध्यम, (3) विचित्र।

(4) **प्रकरण वक्रता** के निम्नलिखित भेद है—एकदेशीयप्रबन्ध वक्रता, उत्पाद्य कथा वैचित्र्य, उपकार्योपकारक भाव, आवृत्ति, प्रासंगिक, प्रकरणरस, अवान्तरवस्तु, वैचित्र्य, प्रकरणान्तर वैचित्र्य योजना, सन्ध्यंगनिवेश।

(5) **प्रबन्ध वक्रता**—यह प्रबन्ध वक्रता मूलतः नाट्य एवं प्रबन्धात्मक कृतियो में लक्षित होती है। इनकी छः विशेषताएं होती हैं—(1) रस परिवर्तन, (2) समापन सौन्दर्य, (3) कथा वैचित्र्य, (4) आनुषंगिक फल, (5) नामकरण वैचित्र्य, (6) कथा साम्य।

11
नाट्यशास्त्र

नाट्यशास्त्र का सम्बन्ध नाट्यविद्या से है और इसके प्रथम ज्ञात आचार्य भरत हैं। आचार्य भरत ने ई० की प्रथम शती में नाट्यशास्त्र नामक ग्रन्थ का प्रणयन करके इस शास्त्र को व्यवस्थित किया। यद्यपि इस प्रकार के साक्ष्य मिलते हैं कि उनके पूर्व नाट्यविद्या का पूर्णतः प्रचार था और उन्होंने सम्भवतः पहली बार इस नाट्यविद्या का संकलन किया। यह भी मत है कि भरत (नट) नामक जाति के साथ इस नट विद्या का विकास हुआ और नाट्यशास्त्र इनके भरतों (नाट्याचार्यों) द्वारा संकलित किया गया।

"नाट्यशास्त्र" मूलतः नट् धातु से सम्बद्ध है। इस "नट्" धातु का अर्थ है, अभिनय, अंग प्रक्षेपणादि। इसी के समानान्तर "नृत" धातु भी है। विद्वानों का विचार है कि "नट्" या "नाट्" धातु "नृत्" का ही परिष्कृत रूप है। इस प्रकार, "नट्" या "नाट्" से सम्पन्न नाट्य शब्द अभिनय के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। रामचन्द्र गुणचन्द्र नाटक को परिभाषित करते हुए बताते हैं—

"नाटकमिति नाटयति विचित्रं रंजनाप्रवेशेन सभ्यानां हृदयं नर्तयति इति नाटकम्"

अर्थात् नाना प्रकार के सौन्दर्य प्रवेश द्वारा ही सहृदयों के हृदयों को आनन्दातिरेक से नचाता है, वह नाटक है, मूलतः इस व्युत्पत्तिमूलक परिभाषा का मुख्य तत्व नाटक के विविध संयोजनों एवं परिणाम से सम्बन्धित है। आचार्य महिमभट्ट ने नाटक को इस प्रकार परिभाषित किया है—

अनुभावविभावानाम् वर्णनाकाव्यमुच्यते।
तेषामेवप्रयोगस्तु नाट्यगीतादिरंजितम् ॥

अर्थात् अनुभाव विभावादि का नाट्यगीतादि से रंजित प्रयोग ही नाटक है सागरनन्दी ने नाटक को परिभाषित करते हुए बताया है कि

अवस्था या तु लोकस्य सुखदुःख समुद्भवा।
तस्यास्त्वभिनयः प्राज्ञैः नाट्यमित्यभिधीयते॥

लोक की विविध सुखदुःखात्मक अवस्था का अभिनय ही नाटक है।

आचार्य भरत ने नाटक को इस प्रकार परिभाषित किया है—

योऽयं स्वभावोलोकस्य सुखदुःखान्वितः।
सोऽङ्गाद्यभिनयोयेतो नाट्यमितिमभिधीयते॥

लोक के सुखदुःखान्वित स्वभाव को अंगादि अभिनयो द्वारा व्यक्त करना ही नाट्य है।

आचार्य धनिक—धनञ्जय की नाट्य विषयक परिभाषा अत्यन्त स्पष्ट एवं उसके स्वाभावर्वैविध्य को दिग्दर्शित करती है—

अवस्थानुकृति नाट्य रूपं रूपतयोच्यते।
रूपकं तत् समारोपात् दशधैव रसाश्रयम्॥

अवस्था की अनुकृति का नाम नाटक है, स्वाँग भरा जाता है, इसलिए इसे रूप भी कहते हैं। आरोपण क्रिया के कारण इसे रूपक भी कहा जाता है और इसके समस्त दसो भेद रसाश्रित होते हैं।

नाटक के तत्त्व—नाटक के पाँच तत्वो का उल्लेख परम्परा में मिलता है—

(1) कथावस्तु
(2) नायक
(3) रस
(4) उद्देश्य
(5) अभिनय व्यापार

(1) **कथावस्तु**—नाटक की कथावस्तु के दो भेद किये जाते है। प्रथम आधिकारिक कथावस्तु द्वितीय है, प्रासंगिक कथावस्तु। आधिकारिक कथावस्तु ही मुख्य है जो आदि से अन्त तक व्याप्त है। इसी से नायकत्व, रसत्व एवं उद्देश्य का निर्धारण होता है, आधिकारिक कथावस्तु को स्पष्ट करते हुए दश रूपककार ने बताया है—

अधिकारः फलस्वाम्यमधिकारी च तत्प्रभुः।
तन्निवृत्तभिव्यापि वृत्तम् स्यादाधिकारिकम्॥

फल का स्थायी होना ही अधिकार है और उसका स्वामी ही अधिकारी है। उस फल तक व्याप्त या उस अधिकारी के द्वारा निष्पन्न वृत्त या कथा आधिकारिक कहलाती है। इस आधिकारिक कथावस्तु को तीन भागो मे विभक्त किया जाता है—

(1) प्रख्यात, (2) उत्पाद्य, (3) मिश्र

प्रख्यात—वह कथावस्तु जो इतिहास, पुराणादि में प्रसिद्ध तथा पूर्व निर्धारित कथाफल के अनुरूप हो आधिकारिक कथावस्तु है।

उत्पाद्य—कवि द्वारा कल्पित कथावस्तु जिसका फलाफल स्वयं कवि की कल्पना का प्रतिफल है।

मिश्र—इतिहास एवं कल्पना से मिश्रित कथावस्तु जिसका प्रतिफल परम्परित कथावस्तु से हटकर कवि कल्पना द्वारा अनुशासित किया जाये।

ये कथावस्तु दिव्य, मर्त्य एवं दिव्यादिव्य व्यक्तियों से जुड़ी होती है। कथानायक होकर अपने श्रेष्ठ प्रभाव से लोक व्यवस्था का निर्देशन करते हैं।

प्रासंगिक—कथावस्तु का मुख्य उद्देश्य आधिकारिक कथा को सहायता पहुँचाना है। दशरूपक में इसे परिभाषित करते हुए बताया गया है—

प्रासंगिकं परार्थस्य स्वार्थो यस्य प्रसंगतः।

जो कथावस्तु मुख्य कथावस्तु के लिए हो, किन्तु प्रसंगवशात् उनका अपना प्रयोजन भी सिद्ध हो जाये वह प्रासंगिक कथावस्तु है क्योंकि उस कथावस्तु की सिद्धि प्रासंगिक ही होती है। इसके दो भेद होते हैं—(1) पताकास्थानक, (2) प्रकरी स्थानक

जो अन्य वस्तु के कथन द्वारा भावी कथानक का सूचक होता है, पताकास्थानक एवं थोड़ी दूर तक चलने वाली कथावस्तु को प्रकरी कहते हैं। उदाहरणार्थ रामकथा में सुग्रीव प्रसंग पताकास्थानक है एवं शबरी प्रसंग प्रकरी है। पताकास्थानक मुख्य कथावस्तु के साथ दूर तक चलता है तथा उसका एक मुख्य फल भी है किन्तु प्रकरी थोड़ी दूर तक चलकर मुख्यकथा के अभिप्राय या उसके किसी प्रसंग फल में विलीन हो जाता है।

कथावस्तु को नियन्त्रित करने वाली उसकी सन्धियाँ, कार्यावस्थाएँ तथा पाँच अर्थ प्रकृतियाँ होती हैं, इनकी स्थिति इस प्रकार है—

(1)	अर्थ प्रकृति		अवस्थाएँ		सन्धियाँ
	बीज	+	प्रारम्भ	=	मुख
	विन्दु	+	प्रयत्न	=	प्रतिमुख
	पताका	+	प्राप्त्याशा	=	गर्भसन्धि
	प्रकरी	+	नियताप्ति	=	विमर्श
	कार्य	+	फलागम	=	निर्वहण

बीज तथा प्रारम्भ के संयोग से मुखसन्धि, बिन्दु तथा प्रयत्न के संयोग से प्रतिमुख सन्धि, पताका तथा प्राप्त्याश के संयोग से गर्भसंधि, प्रकरी तथा नियताप्ति के संयोग से विमर्श संधि तथा कार्य एवं फलागम के संयोग से निर्वहण सन्धि होती है।

नायक—नायक शब्द की सार्थकता कथावस्तु के नयन (ले जाने, आगे बढाने) के कारण होती है। दशरूपककार ने बताया है—नेतानायको विनयादि गुण सम्पन्नो भवतीति—अर्थात् नेता या नायक विनय आदि गुणों से सम्पन्न होता है। दशरूपककार ने नेता के निम्नलिखित गुणो का वर्णन किया है—विशेष रूप में रूपक का नेता नम्र, मधुर, त्यागी, युवक, बुद्धिमान, तेजस्वी, कलाश्रित आदि गुणों से सम्पन्न होता है। सामान्य रूप से इनके चार भेद विश्रुत हैं—

(1) धीरोदात्त, (2) धीरललित, (3) धीरशान्त, (4) धीरोद्धत।

इनमे धीर शब्द का अर्थ है, प्रत्येक परिस्थिति मे दृढ़ या स्वस्वभाव को न परित्याग करने वाला। इनके लक्षण क्रमश. इस प्रकार है—

(1) **धीरोदात्त**—दशरूपककार ने धीरोदात्त का लक्षण इस प्रकार दिया है—

महासत्त्वोऽति गम्भीरः क्षमावान विकत्थनः।
स्थिरो निगूढाहंकारो धीरोदात्तः दृढव्रतः॥

विशाल एवं अविचल अन्त.करणवाला, अत्यन्त गम्भीर, क्षमाशील, आत्मप्रशंसा न करने वाला, अविचल, अभिमान को दबाकर रखने वाला एवं दृढव्रती अंगीकार किए हुए को निभाने वाला धीरोदात्त नायक होता है। सामान्य रूप मे उदात्तता के धर्म से जो किसी भी रूप से विचलित नही होता, वह धीरोदात्त नायक है। यह विभाजन मूलत. गुणो की श्रेष्ठता के आधार पर किया गया है। भारतीय संस्कृति में उत्कृष्टता या श्रेष्ठ मृदुत्त ही इसके लिए आधार है। "राम" का नायकत्व इसी वर्ग के अन्तर्गत आता है।

धीर ललित—दशरूपककार आचार्य धनञ्जय ने ललित नायक का लक्षण इस प्रकार बताया है—

निश्चिन्तो धीर ललितः कलासक्तः सुखीमृदुः।

चिन्तायुक्त, कथाओं के प्रेमी, सुखी तथा कोमल प्रकृति का नायक धीर ललित है। भगवान कृष्ण को ललित नायक की श्रेणी मे रखा गया है।

धीरशांत या धीर प्रशांत—विनय आदि गुणों से युक्त ब्राह्मण, मंत्री आदि जाति-कर्मों से सम्बद्ध। निश्चिन्तता आदि गुणो के साथ शान्त स्वभाव का होना उसका मूल धर्म है। अपि, भगवान बुद्धादि को भी इस श्रेणी में रखा जा सकता है। धनिक ने इसका लक्षण इस प्रकार दिया है—

"सामान्यगुणयुक्तश्च धीरशान्तो द्विजादिकः"

संस्कृत साहित्य मे "मृच्छकटिक" का नायक चारुदत्त धीरशान्त नायक है।

धीरोद्धत—सामान्य रूप से उद्धत एवं मात्सर्य आदि गुणों से युक्त नायक को इस श्रेणी मे रखा जाता है। आचार्य धनिक ने धीरोद्धत को इस प्रकार परिभाषित किया है—

दर्पमात्सर्यभूयिष्ठो मायाछद्मपरायणः ।
धीरोद्धतस्त्वहंकारी चलचण्डो विकत्थनः ।।

घमण्ड तथा डाह की अधिकता से युक्त, माया एवं कपट से भरपूर अहंकारी, अस्थिर, अत्यन्त क्रोधी एवं आत्मप्रशंसक स्वभाव को न त्याग सकने वाले नायक इस वर्ग में आता है।

रस व्यापार

आचार्य धनिक ने नितान्त स्पष्ट रूप से नाटक के सम्बन्ध मे बताया है कि—दशधैव रसाश्रयक" नाटक के दसों भेद रसाश्रित होते हैं। मूलतः कथावस्तु, नायक, उद्देश्य, तथा अभिनय व्यापार से सभी दर्शक से भिन्न है। प्रथम तीन कृतिगुण है, अभिनय व्यापार नट या अभिनेता का गुण है। रस का सम्बन्ध दर्शक से होता है। दर्शक नाटक को देखते समय पूरी तरह से उसमें अनुरक्त रहता है। उसकी इस अनुरक्ति के सम्बन्ध मे अग्निपुराणकार बताया है—

यतो हस्तः ततो दृष्टि. यतो दृष्टि ततो मनः ।
यतो मन. ततो भावो यतो भावः ततो रस· ।।

अभिनेता की हस्त-पद संचलनादि मुद्रा जैसी-जैसी होगी, दर्शक की वहाँ-वहाँ दृष्टि रमती है, जहाँ-जहाँ दर्शक की दृष्टि है, वहाँ-वहाँ उसका मन भी रहता है। मानसी वृत्ति की उस एकाग्रता में उसी प्रकार के भाव भी होते है और जहाँ तथा जैसे भाव होंगे वहाँ और वैसे ही रस होगा। इस प्रकार अभिनेता तथा सामाजिक (प्रेक्षक) के बीच रस की आविर्भूतता ही दोनों को जोड़ती है। आचार्य भरत ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा है कि यदि दर्शक अभिनयादि से विह्वल रससिक्त नही होता या अभिनय व्यापार इस दृष्टि से अक्षम है तो प्रेक्षक की स्थिति नाट्यशाला के स्तम्भों से उत्कीर्ण मानवीय प्रतिमाओं के समान उनकी निर्जीवता है। उन्होंने नाट्यशास्त्र के अन्तर्गत नितान्त स्पष्ट शब्दो मे प्रतिपादित किया है कि—

"नहि रसादृतो काश्चिद् अर्थों प्रवर्तते"

रसाभिभूत करने के अतिरिक्त नाट्य का और क्या प्रयोजन है। उसके अन्य प्रयोजनों मे से यह प्रयोजन नितान्त अनिवार्य है।

आचार्य भरत ने नाटक के अन्तर्गत रस निष्पत्ति के सम्बन्ध मे अपना स्पष्ट विचार प्रस्तुत किया है—

"विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगाद्रस निष्पत्ति·"

विभाव, अनुभाव एवं संचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। आचार्य भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टनायक एवं अभिनवगुप्त ने इस सम्बन्ध में अपनी-अपनी भिन्न-भिन्न सैद्धान्तिक व्याख्याएँ दी है—जिनका विवेचन रस प्रकरण मे किया जा चुका है।

उद्देश्य या फल—नाट्यफल को आचार्यों ने दो भागो में विभक्त किया है। नाट्य के अभिनय व्यापार से उत्पन्न रसास्वादन इसका प्रथम फल है। यह काव्य कला एवं अभिनय व्यापार का दर्शक पर प्रत्यक्ष फल है। इसके अतिरिक्त भी धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इन फलो की ओर आचार्यों ने ध्यान आकर्षित किया है। आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र की भूमिका मे इस तत्त्व की ओर ध्यान आकर्षित किया है—

"नाट्यमेतद्भविष्यति"

इस प्रकार नाटक लोक में एक वृहत्तर उद्देश्य की पूर्ति के लिए निर्मित हुआ है।

अभिनय व्यापार

नाट्यशास्त्र प्रयोग है और आचार्य भरत ने इसे "क्रिया व्यापार" के रूप मे स्वीकृति दी है। कालिदास ने इसे "प्रयोग विज्ञान" कहा है। मूलत. अभिनय व्यापार ही नाट्य की नाट्यधर्मिता का प्रमुख तत्त्व है। इस अभिनय व्यापार की सिद्धि के लिए "नट" जाति का सम्बन्ध इसलिए इस विधा से बताया गया है—और अभिनेता तथा नट प्राय: प्राचीन साहित्य में समानार्थी शब्द के रूप में प्रचलित है। स्वयं "नाट्य" शब्द नटन (अभिनय) व्यापार के कारण ही सार्थकता प्राप्त करता है। अत: संस्कृत वाङ्मय में नाटक के साथ अभिनय व्यापार एक अभिन्न अंग रहा है। अभिनय का अर्थ है—हृदय के भावों का तद्वत प्रकाशन, अभिनयति—हृदयगत भावान् प्रकाशयति इति" नाटक को इसी दृष्टि से ही परिभाषित करते हुए आचार्य धनिक ने उसे "अवस्थानुवृत्ति" कहा है। लोक में जो भी घटित है, नट उसको (1) कायिक, (2) वाचिक, (3) आहार्य तथा सात्त्विक अनुभावों द्वारा अनुकृति के माध्यम से प्रस्तुत करता है। आचार्य धनिक ने अनुभाव को परिभाषित करते हुए स्पष्ट रूप से बताया है कि—

"अनुभावो विकारस्तु भावसंसूचनात्मक:"

इसको स्पष्ट करता हुआ वह कहता है—

"ये अनुभाव अभिनय व्यापार के अन्तर्गत अनुभावों का साक्षात् अनुभव कराने वाले रसिकों के अनुभव के कर्म के रूप में अनुभूत होते हैं।" मूलत: अवस्था

की अनुकृति का बोध ये अनुभाव बराबर दर्शक को भावानुकूल आविद्ध करते हैं और अभिनय के मूलाधार यही हैं। अभिनय के सहायक व्यापार के अन्तर्गत रंगसज्जा, वेषविन्यास, मुद्रा रचना आदि तत्व भी इसी से जुड़े हैं। सामान्य रूप से कायिक अनुभव के साथ अंग प्रत्यंग संचालनादि की विशिष्ट मुद्राएँ अपेक्षित हैं। आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र के अन्तर्गत इस पर विशेष रूप से विचार किया है। आचार्य रामचन्द्र गुणचन्द्र ने कायिक अभिनय को इस प्रकार परिभाषित किया है—"कर्मणोऽङ्गोरुपाङ्गैश्च साक्षात् भावनमाङ्गिकः"

अंगों तथा उपाङ्गों के द्वारा कार्यों का साक्षात्कार कराना आंगिक अभिनय है। शिर, हाथ, पार्श्व, कटि चरण एवं छाती ये छः अंग हैं तथा नेत्र, भ्रू, नासिका, अधर, कपोल, चिबुक आदि उपांग हैं। प्रत्येक अंग के अपने-अपने अभिनय विविध भावनाओं के अनुसार होते हैं—जैसे शिर नायक अंग के संचालन की तेरह मुद्राएँ हैं, अर्थात् तेरह प्रकार के अभिनय होते हैं, इसी प्रकार नेत्र उपांग के छत्तीस प्रकार के अभिनय हैं। इस प्रकार लोकादि में प्रचलित विविध अवस्थाओं का अनुकरण उन भावों के सापेक्ष्य में अनेकशः रूप में किए गए हैं।

वाचिक अभिनय की स्थिति इसी प्रकार की है। वाणी व्यापार द्वारा विविध सत्व दशा की अनुकृति को प्रस्तुत करना वाचिक अभिनय है। मूलतः वाचिक अभिनय ही सम्पूर्ण सत्व दशा की व्यंजना का आधार है, अतः आचार्यों ने कथोपकथन के रूप में सम्लाप को विशेष स्थान दिया है। इसके द्वारा कायिक, सात्त्विक एवं आहार्य इन सम्पूर्ण दशाओं की व्यंजना की जा सकती है।

सात्त्विक अभिनय का सम्बन्ध मानसिक भावदशाओं से है। स्वरभेद आदि के द्वारा अनुभाव का प्रदर्शन ही सात्त्विक भेद है। उदाहरण के लिए हर्ष, कम्प, पुलक, क्रोध, आवेग आदि सात्त्विक अनुभावों को चूँकि वाणी द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता है अतः अभिनय व्यापार में सत्त्व दशा को प्रकट करने वाले अंगों से ही उनकी अनुकृति प्रस्तुत की जाती है। आचार्य अभिनय के अन्तर्गत वेष विन्यासादि को ग्रहण करते हैं। आचार्य रामचन्द्र गुणचन्द्र आहार्य को परिभाषित करते हुए बतलाते हैं—

वर्णादिनूक्रियाऽहार्यो वाह्यवस्तु निमित्तकः

वाह्य वस्तुओं के द्वारा किये जाने वाला वर्ण आदि का अनुकरण आहार्य अभिनय है। विविध रंग, पशु-पक्षी, वनस्पति, पर्वतादि। इनके लिए हड़ताल, स्याही, मिट्टी, गेरु आदि लेख, विविध प्रकार के वाद्य-यन्त्र, तथा वेष विन्यास रचना आदि की इसके लिए अभिनय में आवश्यकता पड़ती है। इसमें देश कालादि का विशेष ध्यान रखा जाता है।

यद्यपि आज अभिनय का विशेष विस्तार है, फिर भी प्रारम्भिक स्थिति में इनका इतना विस्तार नहीं था।

नाटकों की उत्पत्ति विषयक धारणाएँ

भारतीय नाट्य का प्रारम्भ कब से हुआ यह विवाद का विषय है। प्रारम्भिक विवाद तो यहीं से शुरू हुआ कि भारतीयों ने यूनानियों के मंचन व्यापार एवं अभिनय कला को ग्रहण किया। सामान्य रूप से मंचन व्यापार से सम्बद्ध "यवनिका" शब्द इसके लिए आधार बनाया गया जो पूर्णतः असंगत तथा कल्पना पर आश्रित है। संस्कृत का यह शब्द "जवनिका" है और उसके मूल में "जव" पद है, जिसका प्रयोग शीघ्रता से सम्पादन के निमित्त होता है।

एक दूसरा मत विशेषकर जर्मन विद्वान् कीथ, पिशेल, डॉ० हर्टल आदि के है कि वैदिक संवाद सूक्तों के गायन से नाटकों का प्रारम्भ हुआ होगा। इस मत के समर्थक आचार्य भरत के निम्नलिखित श्लोक को आधार बनाते हैं—

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानथर्वणादपि॥

आचार्य भरत के इस वाक्य का अर्थ यही है कि वैदिक काल में नाट्य एवं मंचन कला व्यापार की व्यवस्था थी और उपर्युक्त जर्मन विद्वान् यम यमी, पुरूरवा-उर्वशी, इन्द्र-मरुत आदि संवादों के गायन को नाट्योत्पत्ति का प्रारम्भ मानते हैं।

इस सम्बन्ध में तीसरा मत यह है कि आर्यों द्वारा कृषि व्यवस्था स्वीकार कर लेने पर उससे सम्बन्धित विविध अवसरों पर सामाजिक उत्सवों के आयोजन होते थे, उदाहरण के लिए सोमोत्सव आदि। हेमन्त ऋतु की समाप्ति के पश्चात् एक सामाजिक उत्सव का उल्लेख अथर्वण में मिलता है। इस आयोजन के सन्दर्भ में उल्लेख है कि आनन्द-उल्लास के लिए ऐसे उत्सवों में—प्रमुदाय वामनम्, हासाय कारिम् प्रमोद के लिए बौने हास्य के लिए हिजड़े का उपयोग करना चाहिए। अथर्ववेद के इस प्रकरण के आधार पर निष्कर्ष निकाला जाता है कि कृषि उत्सवों से नाट्य का जन्म हुआ होगा। इस सम्बन्ध में चौथा मत आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र में निर्दिष्ट है—वह यह कि आर्य वर्णव्यवस्था के चतुर्थ वर्ण के लिए वेद वर्जित था और समाज को आवश्यकता हुई कि उनके लिए भी ज्ञानार्जन का कोई माध्यम निकाला जाए, फलतः ब्रह्मा जी की प्रेरणा से इस पंचम नाट्यवेद का अवतरण किया गया और इस नाट्यवेद के माध्यम से उन्हें सम्पूर्ण ज्ञानार्जन का अवसर मिला।

इस सम्बन्ध में एक अन्य मत यह है कि भारत में नट नामक जाति की

यह अपनी विद्या है और ई० पू० आठवीं शती से यह नट् जाति अभिनय तथा मंचन व्यापार से अपनी आजीविका चलाती रही है। नाट्य की उत्पत्ति "नट्" या "नाट्" धातु से हुई है और यह भी मत है कि अभिनय व्यापार से अभिन्नतः जुड़े होने के कारण इस जाति को ही "नट" के नाम से पुकारा गया और नट जाति ने इस अभिनय व्यापार को आगे बढ़ाया। "नट्" नृत् धातु से निर्मित है, ऐसा स्वीकार करके अनेक विद्वानों द्वारा यह माना जाता है कि नाटक का उद्भव नृत्य से हुआ होगा।

नाट्य व्यवस्था एवं नाट्यशास्त्र का इतिहास

भारतीय नाट्यशास्त्र का इतिहास नितान्त प्राचीन है। प्रारम्भ मे वैदिक काल से ही इसके प्रारम्भ होने के प्रमाण मिलने लगते हैं। ऋग्वेद के विविध संवादों तथा अथर्ववेद मे निर्दिष्ट विविध उत्सवों में नाट्यायोजनों के सूत्र मिलते हैं। आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र (ईसा की प्रथम शती) में अपने पूर्ववर्ती नाटको मे "अब्धि मंथन" तथा "लक्ष्मी स्वयम्बर" का उल्लेख किया है। इस उल्लेख के पूर्व नट विद्या, नट्न व्यापार आदि का उल्लेख वाल्मीकि रामायण, महाभारत, कौटिल्य के अर्थशास्त्र, बौद्ध धर्म के प्रारम्भिक ग्रंथों मे मिलने लगता है। वाल्मीकि रामायण मे वन गमन प्रसंग के पूर्व सीता राम को भर्त्सना करती हुई कहती हैं—

"शैलूष इव हे राम ! परेभ्यो दातुमिच्छसि"

हे राम ! तुम "नट" की भांति मुझे दूसरे को सौंपना चाहते हो। रामायण के विषय मे विख्यात है कि रामकथा के अस्तित्व मे आने के पूर्व "कुशीलव" नामक चारण जाति के द्वारा इस कथा का गायन करके आजीविका चलाई जाती थी। कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे उल्लेख है कि नट् व्यापार में संलग्न रहकर आजीविका चलाने वालो को नगर के बाहर ही स्थापित करना चाहिए। बौद्ध कथाओ मे इस तथ्य के उल्लेख हैं कि रात्रि में गोपनीय ढंग से अभिनय व्यापार के दर्शक भिक्षुओं को संघ से निकाल देना चाहिए। पतंजलि ने महाभाष्य में स्वर व्यंजन प्रकरण मे इन नाट्यकर्मियो की व्यवस्था का प्रकारान्तर भाव से उल्लेख किया है—"व्यंजनानि तु पुन॰ नट्भार्यावत् भवन्ति, कस्य यूयम्, कस्य यूयम्, त्वं-त्वं इति वदन्ति"

व्यंजन की स्थिति नट् भार्या की भाँति है। उनसे यह पूछा जाने पर कि तुम किसकी पत्नी हो, किसकी पत्नी हो, तुम्हारी ही हैं, तुम्हारी ही हैं, ऐसा कहती है। इन शब्दों का मन्तव्य यही है कि एक ही नट्भार्या राम, कृष्ण आदि अनेक नायकों की पत्नियो के रूप में अभिनय व्यापार से सम्बद्ध अनेक रूपों में

अपने को प्रगट करती थी। पतंजलि के महाभाष्य में ही अभिनय व्यापार के अनेक प्रसंगों का उल्लेख है, जहाँ दानवादि मुँह में काला रंग लगाकर कृष्ण मुख होते थे और देवतादि किसी श्वेत पदार्थ का लेपन करके "श्वेत मुख" दिखाई पड़ते थे—"एते श्वेत मुखाः एते कृष्ण मुखा" आदि का उल्लेख है ई० की पाँचवीं शती पूर्व लिखित पाणिनि की अष्टाध्यायी में "रसिको नटः" के रूप में एक सूत्र का उल्लेख है जो नाट्यरसभोक्ता नट के प्रमाण का अकाट्य उदाहरण है। नाट्यशास्त्र का संक्षिप्त इतिहास इस प्रकार है—

नाट्यविद्या के प्रथम प्रयोक्ता आचार्य भरत माने गए हैं और इनकी रचना का नाम नाट्यशास्त्र है। विद्वानों की भरत के विषय में कई धारणाएँ हैं। कहा जाता है कि नाट्यशास्त्र ई० पू० कई शताब्दियों से संकलित होता हुआ नाट्य विद्या का एक संकलन ग्रन्थ है और भरत कोई एक व्यक्ति न होकर "नट" जाति का पर्यायवाची शब्द है। नाट्यशास्त्र मे नाट्याचार्यों की एक लम्बी सूची है और उसकी समाप्ति के बाद कहा गया है—"एते भरताः" अर्थात् ये नाट्याचार्य हैं। अमरकोश मे नट के 10 पर्यायवाची शब्दों मे "भरत" शब्द का भी उल्लेख है। नाट्यशास्त्र मे ही आदि भरत एवं वृद्ध भरत जैसे शब्दों का भी उल्लेख मिलता है। यही नहीं, नाट्यशास्त्र मे आनुवश्य (परम्परा के) श्लोकों की संख्या भी अधिक है, साथ ही, उसके वृत्ति, गद्य, श्लोक भागों के विषय में अनुमान है कि ये सब ई० पू० पाँचवीं शती से कम प्राचीन नहीं है। इसके आदिम आचार्यों में शिव, उमा, तण्डु, नन्दि, द्रुहिण आदि के उल्लेख नाट्यशास्त्र मे बराबर मिलते हैं। "शिव" को आदि नाट्याचार्य कहा जाता है और उन्होंने अपने "ताण्डव-नृत्य" से नाट्य का श्री गणेश किया था। उमा ने अपना "लास्य" नृत्य और विविध मुद्राएँ इसमे सम्मिलित कीं। "तण्डु" नामक ऋषि ने शिव के ताण्डव नृत्य को लोक सुलभ कराया और आचार्य नन्दिकेश्वर ने ध्रुवा, अभिनय, संगीत तथा रस व्यापार से नाट्य को व्यवस्थित किया। इसीलिए भारतीय नाटकों को प्रारम्भ करने के पूर्व "नान्दी पाठ" की परम्परा के माध्यम से इन्हें सर्वप्रथम स्मरण किया जाता है। आचार्य द्रुहिण (ब्रह्मा) के द्वारा इसे समाज में मान्यता प्राप्त कराई गई और इसीलिए नाट्यशास्त्र मे इनका बार-बार स्मरण किया गया है। भरत नामक ऋषि इसके प्रथम प्रयोक्ता थे अतः नाटक की समाप्ति के बाद "भरतवाक्य" की परम्परा के द्वारा इन्हें स्मरण किया जाता है। भारतीय नाट्यशास्त्र विषयक इन प्रारम्भिक साक्ष्यों से स्पष्ट है कि इसका प्रारम्भ ई० पू० आठवीं शती तक माना जा सकता है।

आचार्य भरत के पश्चात् उनके रस सूत्र के व्याख्याता आचार्यों का उल्लेख इसी परम्परा के अन्तर्गत किया जाता है। इन आचार्यों ने रस के प्रकाश में अभि-

नय व्यापार तथा रसास्वादन की स्थिति पर भिन्न-भिन्न रूपों मे विचार किया है। इस परम्परा मे प्रथम आचार्य भट्टलोल्लट हैं। उनके सिद्धान्त को आरोपवाद या उत्पत्तिवाद के नाम से पुकारा जाता है। वैसे इनके किसी स्वतन्त्र ग्रन्थ का उल्लेख सम्प्रति अप्राप्त है। इसी परम्परा के अन्तर्गत आचार्य शंकुक के नाम का उल्लेख किया जाता है। इनका मत "अनुमितिवाद" है। अनेक आचार्य इन्हे सांख्य दर्शनावलम्बी और कई विद्वान् इन्हें बौद्ध मानते है। इनका ग्रन्थ सम्प्रति उपलब्ध नही है। इस परम्परा के तीसरे आचार्य "भट्ट नायक" हैं। इनके ग्रन्थ का नाम "हृदय दर्पण" बताया गया है किन्तु वह सम्प्रति अप्राप्य है। इनके सिद्धान्त को "भोगवाद" कहा गया है और दार्शनिक दृष्टि से इनका सम्बन्ध उत्तरमीमांसा दर्शन से जोडा गया है। इस परम्परा में अन्तिम नाम आचार्य अभिनव गुप्त का है। उन्होने भरत कृत नाट्यशास्त्र पर अभिनवभारती नामक टीका की रचना की तथा भरत सूत्र की तार्किक व्याख्या की। ये शैव थे और इनके मत को "अभिव्यक्तिवाद" के नाम से पुकारा जाता है।

इन विवेचकों के अतिरिक्त परम्परा मे अनेक परवर्ती आचार्यो का उल्लेख इस क्रम मे है—

आचार्य नन्दिकेश्वर—इनके दो ग्रन्थ बताये जाते हैं, भरतार्णव एवं "अभिनयदर्पण"। इनका समय 11वीं शती के आसपास निर्दिष्ट किया जाता है।

सागरनन्दी—इनके ग्रन्थ का नाम "नाट्य लक्षण रत्नकोश" है। इनका समय 11वीं शती के आस-पास है।

आचार्य धनन्जय—इनके ग्रन्थ का नाम "दशरूपक" है। इनका समय 10वीं शती है।

आचार्य रामचन्द्र गुणचन्द्र—आचार्य रामचन्द्र तथा गुणचन्द्र परस्पर सगे भाई तथा बौद्ध धर्म के विख्यात आचार्य थे। इन्होने 12वीं शती मे नाट्यदर्पण नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ की रचना इन्होने की थी।

शारदातनय—इनके ग्रन्थ का नाम "भाव प्रकाशन" है। इनका काल निर्धारण 13वीं शती किया जाता है।

शिङ्भूपाल—इनके ग्रन्थ का नाम "रसार्णव" है। इन्होने संक्षेप मे नाट्य विषयक मतों तथा तत्वो का उल्लेख इस ग्रन्थ मे किया है। इनका जीवनकाल चौदहवीं शती निर्धारित किया जाता है।

रूपगोस्वामी—प्रसिद्ध चैतन्य मतावलम्बी रूपगोस्वामी ने नाट्यशास्त्र पर "नाट्यचन्द्रिका" नामक ग्रन्थ लिखा है। इनका समय 16वीं शताब्दी है।

सुन्दर मिश्र—इनका समय 17वीं शताब्दी है तथा इनके ग्रन्थ का नाम "नाट्य प्रदीप" है।

इनके अतिरिक्त संस्कृत के विविध काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में प्रसंगतः नाट्य नियमों के निर्देश मिलते हैं किन्तु इस विषय पर स्वतन्त्र ग्रन्थ [illegible] संस्कृत साहित्य मे नही लिखे गए। हिन्दी साहित्य मे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने नाटक की सर्वप्रथम व्यवस्थित रूपरेखा 'सत्य हरिश्चन्द्र' नामक नाटक की भूमिका मे तैयार की थी लेकिन उसका मूलाधार परम्परागत नाट्यशास्त्र ही रहा है। इसके पश्चात् विशेष रूप से अंग्रेजी नाटकों एवं नाट्य सिद्धान्तों के प्रकाश में हिन्दी के आलोचनात्मक नाट्यचिन्तन को आरम्भिक विस्तार मिला है और इस दिशा मे अनेक कार्य किए गए हैं। वैसे, नाट्यशास्त्र तथा उसके सैद्धान्तिक चिन्तन पर विचार करने की अभी अनेकानेक सम्भावनाएँ वर्तमान है।

12
छन्दशास्त्र

छन्द की परिभाषा—'छन्द' शब्द के मूल में 'छदि' धातु है। इस 'छदि' के कई अर्थ होते हैं। 'छदि संवरणे' के अनुसार 'छदि' धातु का प्रयोग छिपने के अर्थ में है। निघण्टु में 'छन्द' धातु का भी उल्लेख हुआ है, जिसका अर्थ बन्धन से है। एक अन्य स्थल पर छन्द शब्द का अर्थ आच्छादन बताया गया है—'छन्दांसि आच्छादनात्' आच्छादित करने के कारण छन्द कहा गया है। सायण ने छन्द शब्द को स्पष्ट करते हुए बताया है—'अपमृत्यं वारयितुं आच्छादयति इति छन्द.' अर्थात् कवि और उसकी कृति को जो अपमृत्यु से बचाता है, वह छन्द है। किन्तु, दूसरे सन्दर्भ में कवि की सम्पूर्ण भावनाओं एवं अभिव्यक्तियों के आच्छादन को छन्द कहते हैं।

छन्द को अनेक रूपों में परिभाषित करने की चेष्टा की गई है। आचार्य पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने परिभाषित करते हुए बताया है—

"छोटी-छोटी सार्थक ध्वनियों के प्रवाहपूर्ण सामंजस्य का नाम छन्द है।"

डॉ० जगदीश गुप्त 'हिन्दी साहित्य कोश' में छन्द को परिभाषित करते हुए कहते हैं।

"अक्षर, अक्षरों की संख्या एवं क्रम, मात्रा, मात्रागणना तथा यति-गति आदि के सम्बन्धित विशिष्ट नियमों से नियोजित पद्य रचना छन्द कहलाती है।"

आचार्य पण्डित रामचन्द्र शुक्ल तथा डॉ० जगदीश गुप्त की परिभाषाओं की तुलना करने पर यह सहज ज्ञात होता है कि शुक्ल जी जिसे छन्द कहकर परिभाषित कर रहे हैं, वह छन्द सामान्य की परिभाषा है—किन्तु डॉ० जगदीश गुप्त ने 'संस्कृत तथा हिन्दी' छन्दों की ओर संकेत करके छन्द विशेष की परिभाषा दी है।

अक्षर, उसकी संख्या, मात्रा आदि छन्द के अस्थायी आधार हैं। वस्तुतः आचार्य शुक्ल 'प्रवाहपूर्ण सामंजस्य' शब्द द्वारा सम्भवतया उसके एक विशिष्ट

तत्व की ओर संकेत करना चाह रहे हैं वह है, 'लय तत्त्व'। अक्षर, गुरु लघु [illegible] विधान आदि लय के अनिवार्य उपकरण न होकर सामयिक तत्त्व हैं। काव्यानुकूल लय काव्य भाषा के अनेक आधानों को अपने ऊपर धारण करता है—जो सार्वयुगीन होते हैं। काव्यविधान के लिए उपयुक्त शब्दों की समुचित व्यवस्था का नाम ही छन्द है। अमरकोश में लय को परिभाषित करते हुए बताया गया है 'लय साम्यम्' अर्थात् रचना के बाह्य एवं अन्तर्वर्ती अन्विति का नाम लय है। जहाँ कहीं यह भी बताया गया है कि—'लयाधारो छन्द.' छन्द लयाश्रित होता है। एक अन्य स्थल पर कहा गया है—'पादन्यासो लयमनुगत.' अर्थात् छन्द का प्रत्येक चरण लय से परिशासित होता है। लय ही छन्द का प्राण है। लयाश्रित छन्द को आई० ए० रिचर्ड्स इस प्रकार परिभाषित करते हुए कहते हैं—

More specialised from of temporal rhythmic sequence which known as metre—

सामान्यतया छन्द को इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है—

काव्य वाणी व्यापार के अन्तर्गत प्रतीतिमूलक तथा विश्लेषणपरक लय का नाम ही छन्द है।

छन्द का इतिहास

भारतीय वाङ्मय के साथ छन्द का इतिहास जुड़ा हुआ है। ऋग्वेद दशम मण्डल के पुरुष सूक्त मे निर्दिष्ट किया गया है कि पुरुष से ही छन्द, ऋक् एवं यजु, एवं सामवेदों की उत्पत्ति हुई है—

'छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात् यजुस्तस्मादजायत'

ऋक् प्रातिशाख्य मे छन्द सृष्टि की उत्पत्ति कथा दी गई है। इसके रचनाकार शौनक ने बताया है कि सातों वैदिक छन्दो के कारण प्रजापति, देव एवं असुर के संयोग से छन्द सृष्टि की उत्पत्ति हुई। वस्तुतः इस कथा का निष्कर्ष यही है कि वैदिक वाङ्मय के साथ छन्द का अभिन्न सम्बन्ध है और सायण आदि भाष्यकारों ने प्रारम्भ से ही इसके शास्त्रीय विधानों की ओर संकेत किया है। सम्पूर्ण भारतीय (संस्कृत से लेकर हिन्दी तक) छन्द के इतिहास को 4 क्रमों में विभक्त करके देखा जा सकता है—

(1) अक्षर—विधान क्रम
(2) गण—विधान क्रम
(3) मात्रा—विधान क्रम
(4) लय—विधान क्रम

(1) ईसा पूर्व की शतियो मे लिखे जाने वाले वैदिक साहित्य के छन्द 'अक्षर विधान' से परिशासित थे। लयात्मकता के लिए आधार उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित की उच्चारण विधि थी। अक्षर संख्या पर आधारित छन्द उच्चारण विधि मे अनुशासित थे। गायत्री में 24 अक्षर तीन चरण, उष्णिक में तीन चरण प्रथम द्वितीय में आठ-आठ अक्षर एव तीसरे में 12 अक्षर, कुछ 28 अक्षर, अनुष्टुप मे आठ अक्षर, चरण और मिलाकर 32 अक्षर, बृहती में तीन चरणो मे मे आठ-आठ तथा अन्त में 12, कुछ 36 अक्षर, इसी प्रकार—पंक्ति छन्द = 5 चरण × प्रत्येक चरण मे आठ अक्षर, कुल 40 अक्षर।

त्रिष्टुप = 4 चरण — —11 अक्षर प्रति चरण 44 अक्षर
विराज = 2 चरण — —10 अक्षर प्रति चरण 20 अक्षर

(2) इसके पश्चात् लौकिक संस्कृत साहित्य के छन्दो का विकास गणात्मक क्रम में हुआ। यह प्रारम्भ मे अक्षरात्मक ही रहा है किन्तु आचार्य भारत के नाट्य-शास्त्र के निर्दिष्ट नियमो को देखने पर पता चलता है कि इसका गणात्मक रूप धीरे-धीरे लयाश्रित होकर विकसित हुआ है। मात्राओ के युग्मक या 'त्रिक्' को गण माना गया। कई छन्दशास्त्री दो अक्षरों की इकाई को 4 भेदों में रखकर गण बनाते है—यथा—

S S
I S
S I
I I

किन्तु, इन चार गणों की योजना अधिक उपादेय सिद्ध न हो न सकी। आचार्य भरत द्वारा निर्दिष्ट त्र्यक्षरी गण ही अधिक प्रचलित है—

S S S म गण
I S S य गण
S I S र गण
I I S सगण
S S I तगण
I S I जगण
S I I भगण
I I I नगण

आचार्य भरत ने इस गणों के अतिरिक्त 'लघु-गुरु' दो शब्दो का विधान किया। इसको स्पष्ट रूप से स्मरण रखने के लिए—यमाताराजभानसलगम्' का सूत्र दिया गया इसे त्रिक के ह्रस्व दीर्घ और प्लुत स्वर संगीत रचना के

तार, मध्य और मन्द्र एवं सामान्य परिगणना में सम, विषम तथा अर्ध सम से सम्बन्धित किया गया।

(3) मात्राभिधान—आचार्य भरत के पूर्व से ही मात्राश्रित 'जाति' छन्दों का प्रयोग मिलता है—इनमें 'लघु' एवं 'गुरु' मात्राओं '।, ऽ' का प्रयोग मिलता है। प्राकृत, अपभ्रंश काल में गणविधान प्रायः टूटने से लगा और अक्षरों का स्थान मात्राओं ने ले लिया। 'ह्रस्व' एवं 'दीर्घ' उच्चारण काल से निर्धारित हुए जिस उच्चारण का सम्बन्ध लघुतम काल की इकाई से हो वह लघु है और जिसका सम्बन्ध उस उच्चारण के लघुतम अन्तराल से अधिक या दूना हो वह दीर्घ है। यह विधान गण विधान से अधिक सरल एवं सहज है, इसीलिए गणात्मक व्यवस्था अन्त में मात्राभिधान में परिणत हुई।

(4) लयविधान—आधुनिक हिन्दी साहित्य में विशेष रूप से निराला साहित्य से लयात्मक छन्दों की चर्चा शुरू हुई। छन्द के बाह्य आवरण अक्षर रचना, गण, मात्राविधान आदि पूरी तरह से टूटे। प्रारम्भ में संकीर्ण दृष्टि के आलोचकों ने इसे मुक्त छन्द, केंचुआ या रबर छन्द के नाम से पुकारा किन्तु धीरे-धीरे समझ में आने लगा कि काव्यभाषा के लिए लयात्मक प्रवाह उसका एक महत्त्वपूर्ण आधार है। नई-कविता में लयात्मक प्रवाह को ही काव्यभाषा की आन्तरिक रचना का मूलतत्त्व स्वीकार किया गया। इस लय को तोड़कर छन्द रचना करने और प्रकारान्तर से अर्थ लय को आधार बनाने की चर्चा आधुनिक साहित्य में बराबर होती रही है। गद्य और पद्य की भाषा के विभेद का व्याकरणिक आधार 'अन्वय' है अब तक 'अन्वयविहीन' भाषा को काव्यभाषा के रूप में जाना जाता रहा है। अब काव्यभाषा 'अन्वययुक्त' होकर भी गद्य नहीं बनती। अर्थ को आवेशित करने वाले भाषिक सन्दर्भ काव्यत्व की प्रतीति कराते हैं। 'लय' अब सम्पूर्णतः काव्यभाषा की समस्या से जुड़ गया है। युग विशेष में छन्द भी काव्यभाषा के पाठरूप से ही सम्बन्धित थे। आचार्य भरत ने सम्भवतया इसी समस्या को ध्यान में रखकर कहा था—न कोई छन्द अक्षर (शब्द) से पृथक् है और न कोई अक्षर छन्दहीन है।

छन्द रचना के पारिभाषिक शब्द

पाद या चरण—छन्द की प्रत्येक पंक्ति को पाद या चरण कहा जाता है। हिन्दी के छन्द दो चरणों से लेकर छः चरणों तक के होते हैं। दोहा में दो चरण एवं छप्पय में छः चरण-छन्द के लघुतम एवं बृहत्तम छन्द के उदाहरण माने जा सकते हैं। इसे एक प्रकार से 'सन्तुलित खण्ड' के नाम से भी पुकारा गया है तथा छन्द लक्षण को चरितार्थ कराने के कारण इन्हें 'छन्द योनि' की भी संज्ञा मिली है।

वर्ण—एक सम्पूर्ण ध्वनि को वर्ण की संज्ञा दी जाती है। वर्णिक छन्द में इन वर्णों को मूलाधार के रूप में स्वीकार किया गया है। इसमें ह्रस्व एवं दीर्घ का ध्यान नहीं दिया जाता। 'अ' एवं 'आ' दोनों पृथक्-पृथक् एक ही वर्ण स्वीकार किये जाते हैं। यही नहीं, सयुक्ताक्षर को भी एक ही वर्ण माना जाता है—जैसे-ज्यों, त्यो आदि।

मात्रा—किसी भी ध्वनि के उच्चारण में काल की लघुतम इकाई को मात्रा कहा जाता है। जैसे 'क' 'काल की लघुतम इकाई के कारण लघु' कहा गया है। इससे अधिक उच्चारण काव्य होने के कारण दीर्घ कहा जाता है—जैसे 'आ'। इनके लिए चिह्न इस प्रकार हैं—लघु—।,

गुरु—ऽ,

सामान्यतया, हिन्दी मे इन्हीं चिह्नों का ही प्रयोग होता है।

लघु-गुरु निर्धारण

(1) ह्रस्वस्वर लघु होते हैं। यही नहीं, इन लघु स्वरों के संयोग से बने व्यंजन भी लघु माने जाते हैं—जैसे अ, क, च, कि, कु आदि।

(2) संयुक्ताक्षर के पहले का वर्ण जिस पर बलाघात् नहीं पड़ता, लघु माना जाता है—जैसे 'हनुमन्त' शब्द में 'म' लघु है।

(3) चन्द्र बिन्दु युक्त व्यंजन लघु माने जाते हैं—जैसे, 'सँग, में 'सँ' लघु है।

(4) दीर्घ स्वर एवं उनके सयोग से निर्मित व्यंजन गुरु माने जाते हैं—जैसे का, की, के, कै की आदि।

(5) बलाघात् से प्रभावित लघु व्यंजन गुरु हो जाता है—जैसे—'गुरु-प्रसाद मे 'गुरु' मे 'रु' पर जोर देने पर लघु होते हुए भी दीर्घ होगा।

(6) संयुक्ताक्षर में 'हलन्त्' के पूर्व का वर्ण दीर्घ होगा—जैसे विष्णु। इसमें 'विष्णु' अर्थात् 'वि' दीर्घ है।

(7) रेफ के पहले का लघुवर्ण गुरु हो जाता है—यथा—'मर्म, चर्म, कर्म, मे म, च, क ये सभी गुरु हैं।

(8) विसर्गान्त सभी गुरु होते हैं—जैसे दुःख में 'दु' गुरु है।

सामान्यतया छन्द के प्रवाह में उच्चारण काल के आधार पर भी कभी कभी लघु एवं गुरु लघु हो जाया करते हैं—

यथा—अवधेश के बालक चारि सदा तुलसी मन मंदिर में विहरँ'

चरण में 'के' का उच्चारण 'क' की भाँति हो रहा है।

यति—छन्द मे प्रयुक्त विराम को यति कहा जाता है। सामान्यतया इनका सम्बन्ध उच्चरित लय से होता है। बड़े छंदो मे 'अर्ध विराम' एवं छोटे छंदो में विराम के स्थान पर यति का प्रयोग होता है।

गति—छंद के लयात्मक गीति प्रवाह को गति के नाम से पुकारा जाता है। मत्रिक छंदों के लिए गति नितांत महत्त्वपूर्ण है। गतिभंग हो जाने से छंद की मात्रात्मक असिद्धि स्पष्ट रूप से प्रतीत होने लगती है।

तुक—अन्त्यानुप्रास को तुक कहा गया है। ध्वनि साम्य एवं सन्तुलन तुक के लिए मूलाधार हैं। छंद के चरणो के अन्त में समान स्वर वर्णो की एकरूपता को तुक की संज्ञा दी गई है। जैसे—

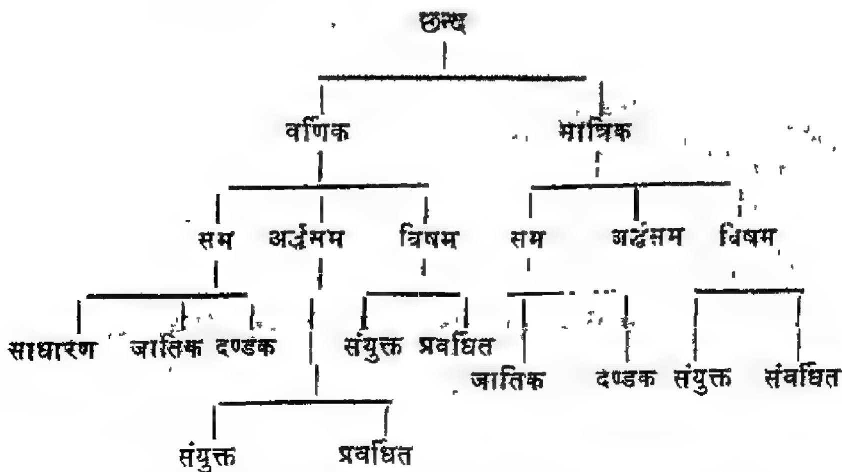
मन में शुचिता समता भागी।
हः ह मोहमयी ममता जागी।

'भागी' और 'जागी' समान स्वर वर्ण होने के कारण तुक हैं।

छंद के भेद

सामान्यतया छंद के दो भेद माने गये हैं— (1) वर्णिक
(2) मात्रिक

किन्तु, आधुनिक कविता में प्रयुक्त छन्दों को मुक्त या लयात्मक छन्द माना जाता है। संस्कृत में 'जाति' और 'वृत्त' नाम से इन्हें दो भागों में विभक्त किया गया था, किन्तु हिन्दी का छन्द भेद स्पष्ट है।



वर्णिक—अक्षर या गण पर आधारित छन्दो को वर्णित कहते हैं।

समवर्णिक—जिन छन्दों के चारो चरणो मे वर्णों की संख्या अथवा गणों की समानता रहती है, उसे सम वर्णिक छन्द कहते हैं—जैसे मन्दाक्रान्ता।

विषम वर्णिक—वे वर्णिक छन्द जिनके प्रत्येक चरण की गण या अक्षर संख्या एकसी न हो—जैसे उद्धता, सौरभ, माधवी आदि छन्द।

अर्धसम वर्णिक—जिन वर्णिक छन्दों में दूसरे तथा चौथे एवं प्रथम तथा तृतीय चरणों में अक्षरों या गणों की समानता हो, जैसे सुन्दरी, वेगवती, पुष्पिताग्रा छन्द।

मात्रिक छंद

सम मात्रिक छंद—जिन छन्दों में चारों चरणों में मात्राओं की संख्या तथा उनका नियोजन क्रम समान हो, उन्हें सम मात्रिक छन्द कहा जाता है, जैसे, चौपाई।

विषम मात्रिक छंद—जिनके चरणों की मात्राएँ समान न हों उन्हें विषम मात्रिक छन्द कहा जाता है—जैसे आर्या।

अर्ध सममात्रिक छंद—जिन मात्रिक छन्दों के 'सम-सम' एवं 'विषम-विषम' चरणों की मात्राएँ समान हों, उन्हें अर्ध सम मात्रिक छन्द कहा जाता है, जैसे—सोरठा।

गण विधान

गणात्मक छन्दों के सन्दर्भ में इनका उल्लेख किया जा चुका है। मात्राओं की 'त्रिक् अन्विति' को गण कहा जाता है। इनकी संख्या आठ बताई गई है। 'गुरु तथा लघु' इनकी सहायता एवं छन्द में मात्राओं की कमी की पूर्ति के लिए रहते हैं। आठ गण एवं लघु-गुरु दो मिलकर छन्द शास्त्र में 'दशाक्षर' कहलाते हैं। इनको सूत्र रूप में इस प्रकार रखा जाता है—

'यमाता राज भान सलगम्'
ISS SI SI IIS

इन्हीं से क्रमशः—य गण = ISS = यमाता
म गण = SSS = मातारा
त गण = SSI = ताराज
र गण = SIS = राजभा
ज गण = ISI = जभान
भ गण = SII = भानस
न गण = III = नसल
स गण = IIS = सलगं
लघु I
गुरु S

इस प्रकार उपर्युक्त सम से गण और उनकी मात्राओं का बोध कराया जाता है।

प्रमुख छन्द

समवर्णिक छन्द

मालिनी छन्द—इस छन्द मे 15 अक्षर होने है। गणात्मक रूप मे 'न न म य य' है।

अर्थात् । । ।, S S S, । S S । S S, गणों की स्थिति पाई जाती है। यथा—

। । ।, । । ।, S S S, । S S, । S S
विलसित उर में है जो सदा देखता सा, = 15 अक्षर
वह निज उर में है ठौर भी क्यों न देता।
नित वह कलपाता है मुझे कान्त हो क्यों,
जिस बिन कलपाते है नहीं प्राण मेरे।

प्रथम पंक्ति । । ।, । । ।, S S S, । S S, । S S की आवृत्ति या 15 अक्षर सभी पंक्तियों में समान रूप मे नियोजित हैं।

बसन्ततिलका

इसका दूसरा नाम सिंहोन्नता है। इसमें 14 अक्षर होते हैं। इसका गणात्मक क्रम इस प्रकार होता है—

त भ ज ज तथा अन्त में दो गुरु। यथा—

S S ।, S । ।, । S ।, । S ।, S S
कुंजे वही, थल वही, जमुना वही है, = 14 अक्षर
बेले वही, बन वही विपटी वही है।
हैं पुष्प पल्लव वही, ब्रज भी वही है,
ये किन्तु श्याम बिन हैं न वही जानते।

प्रथम पंक्ति में S S ।, S । ।, । S ।, S S तथा 14 अक्षरों के कारण वसन्ततिलका छन्द है। इसी की आवृत्ति सभी पंक्तियों में हुई है।

वंशस्थ

इसका ऊपर नाम 'वंशस्थ बिलम्' है। इसमे 12 वर्ण एवं ज गण, त गण, ज गण, र गण होते हैं। यथा—

। S । S S । । । S । S । S
सगर्व बोला तब कर्ण भूप से, = 12 वर्ण
अमात्य है दुर्मतिपूर्ण मन्त्रणा।

परास्त होना रण पूर्ण शत्रु से,
विचार्य है केवल वृद्ध बुद्धि से।

प्रथम पंक्ति में । S ।, S S ।, । S ।, S । S गणों एवं 12 अक्षरों की स्थिति दृष्टव्य है। यही आवृत्ति सभी पंक्तियों में मिलती है।

द्रुतविलम्बित

इसका अपर नाम सुन्दरी भी है। इसमें 12 अक्षर इन गणों के क्रम में रहते हैं—

न गण, भ गण, भ गण, र गण। यथा—

। । । S । ।, S । ।, S । S
दिवस का अवसान समीप था, = 12 अक्षर
गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरु शिखा पर थी अवराजती,
कमलिनी कुल वल्लभ की प्रभा।

इस प्रकार । । ।, S । ।, S । । S । S गणों तथा 12 अक्षरों के कारण द्रुत विलम्बित छन्द है।

शालिनी

4, 7 की यति से 11 अक्षरों के म गण, त गण त गण और अन्त में दो गुरु से विन्यस्त छन्द शालिनी है। यथा—

S S S, S S । SS ।, S, S
कैसी कैसी, ठोकर, खा रहे, हो, = 11 अक्षर, 4 एवं 7 की यति से
कैसी कैसी, यातना पा रहे हो।

इस प्रकार S S S, S S ।, S S ।, S S गणों तथा 4 एवं 7 अक्षरों की यति से 11 अक्षरों से इस छन्द की रचना की गई है। यही आवृत्ति सभी चरणों में हुई है।

उपेन्द्रवज्रा

यह छन्द 11 अक्षरों का ज गण, त गण, ज गण एवं अन्त में दो गुरुओं के संयोग से बनाया जाता है। यथा—

। S ।, S S ।, । S । SS
बड़ा कि छोटा कुछ काम कीजै, = 11 अक्षर
परन्तु पूर्वापर सोच लीजै।

बिन बिचारे यदि काम होगा।
कभी न अच्छा परिणाम होगा।

। S ।, S S ।, । S । एवं S S तथा 11 अक्षरों का क्रम प्रथम चरण में निहित है। इसी की आवृत्ति सभी चरणों में मिलती है।

इन्द्रवज्रा

यह छन्द 11 अक्षरों का त गण, त गण, ज गण और अन्त में दो गुरुओं के संयोग से बनाया जाता है। यथा—

S S । S S । । S । S S
पाके तुम्हें शेष न और पाना, — 11 अक्षर
हो क्योंकि सारे सुख का खजाना।
होते तुम्हीं से नर पूर्ण काम,
हे रौप्य मुद्रे ! तुझको प्रणाम

S S ।, S S ।, । S । S S एवं 11 अक्षरों के निर्मित छन्द इन्द्रवज्रा है।

भुजंगी

तीन य गण एवं लघु गुरु के क्रम से 11 अक्षरों का निर्मित छन्द भुजंगी कहलाता है—

। S S, । S S । S S, । S
नहीं लालसा है विभो ! वित्त की, — 11 अक्षर
हमें चेतना चाहिये चित्त की।
भले हो न हो एक भी सम्पदा,
रहे आत्म विश्वास पूरा सदा।

। S S, । S S, । S S, । S के संयोग से 11 अक्षरों का यह भुजंगी छन्द है। यही आवृत्ति शेष चरणों में होती है।

तोटक

इस छन्द में 12 अक्षर 4 स गण के क्रम से रखे जाते हैं—

। । S, । । S, । । S, । । S
जय राम सदा सुख धाम हरे, — 12 अक्षर
रघुनायक सायक चाप धरे।

भव वारण दारण सिंह प्रभो,
सुख सागर नागर नाथ विभो।

इस प्रकार । । S, । । S, । । S, । । S एवं 12 अक्षरों के प्रयोग से तोटक छन्द बनाया गया है। शेष चरणों मे इसी की आवृत्ति मिलती है।

भुजगप्रयात

चार य गण एवं 12 अक्षरों वाले छन्द को भुजंगप्रयात के नाम से पुकारा गया है। यथा—

। S S, । S S, । S S, । S S
कहूँ किन्नरी किन्नरी ले बजावे। = 12 वर्ण अक्षर
सुरी आसुरी बाँसुरी गीत गावै,
कहूँ पक्षिणी पक्षिणी लै पढावै,
नगी कन्यका पन्नगी को नचावै।

12 अक्षर । S S, । S S, । S S । S S गण के क्रम से रखे गये हैं।

मौक्तिकदाम

चार ज गण जहाँ 12 अक्षरो के क्रम में व्यवस्थित हो, वहाँ मौक्तिकदाम छन्द होता है। यथा—

। S ।, । S ।, । S ।, । S ।,
गिरे चरणो पर थे कपिनाथ, = 12 अक्षर
उठा अपने कर से भुज थाम।
लगा उर से उर को कर प्यार।
मिले कपि नायक से सुख धाम,

12 अक्षर । S ।, । S ।, । S ।, । S । के क्रम से रखे गये हैं।

मन्दाक्रान्ता

अक्षर संख्या 17 को म गण, भ गण, न गण, त गण, त गण दो गुरु क्रम में रखकर मन्द्रक्रान्ता छन्द बनाते हैं। यति 4, 6, 7, अक्षर पर होती। यथा—

S S S S । । । । । S S । S S । S S
दो वंशों में प्रकट करके पावनी लोक लीला। = 17 अक्षर
सौ पुत्रों से अधिक जिनकी पुत्रियाँ पुण्यशीला।
त्यागी भी हैं, शरण जिनके जो अनासक्त गेही।
राजा जोगी जय जनक वे पुण्य देही विदेही।

इस प्रकार SSS SII, III SSI SSI SS [illegible] से युक्त यह छन्द मन्दाक्रान्ता है।

शिखरिणी

य गण म गण न गण स गण भ गण तथा लघु गुरु से युक्त 17 अक्षरों के छन्द को शिखरिणी कहा गया। इसमें यति छठे अक्षर पर होती है।

ISS SSS III IIS SII IS

कुचालों ने मारे मनुज [illegible]
कुपंथों में सारे [illegible]
हठीले होने को [illegible]
हमारे रोने को सुनकर [illegible]

ISS, SSS, III, IIS, SII, IS लघु गुरु से युक्त 17 अक्षरों के छन्द को शिखरिणी माना गया है।

शार्दूलविक्रीडित

19 अक्षरों के म गण, स गण, ज गण, स गण, त गण, त गण और अन्त में गुरु के विन्यास से शार्दूलविक्रीडित छन्द बनता है। [illegible] है। जैसे—

SSS, IIS ISI IIS SSI SSI S

सायंकाल हुवा समुद्र तट की [illegible]
प्रायः शिक्षित सभ्य लोग नित ही [illegible]।

SSS, IIS, ISI, IIS, SSI, SSI, S से युक्त 19 अक्षरों का यह छन्द शार्दूलविक्रीडित है।

सवैया

मदिरा

सात भ गण अन्त में एक गुरु के संयोग से मदिरा सवैया बनता है। यह 'जाति' प्रकृति का छन्द है। यथा—

SII, SII, SII, SII, SII, SII, SII, S

सिंधु तर्यो उनको बनरा तुम पै धनु रेख गई न तरी।
बाँदर बाँधत सो न बंध्यो उन बारिधि बाँधि के बाट करी।

भव वारण दारण सिंह प्रभो,
सुख सागर नागर नाथ विभो।

इस प्रकार । । S, । । S, । । S, । । S एवं 12 अक्षरों के संयोग से तोटक छन्द बनाया गया है। शेष चरणों में इसी की आवृत्ति मिलती है।

भुजंगप्रयात

चार य गण एवं 12 अक्षरों वाले छन्द को भुजंगप्रयात के नाम से पुकारा गया है। यथा—

। S S, । S S, । S S, । S S
कहूँ किन्नरी किन्नरी ले बजावे। = 12 वर्ण अक्षर
सुरी आसुरी बाँसुरी गीत गावै,
कहूँ पक्षिणी पक्षिणी लै पढावै,
नगी कन्यका पन्नगी को नचावै।

12 अक्षर । S S, । S S, । S S । S S गण के क्रम से रखे गये हैं।

मौक्तिकदाम

चार ज गण जहाँ 12 अक्षरों के क्रम में व्यवस्थित हो, वहाँ मौक्तिकदाम छन्द होता है। यथा—

। S ।, । S ।, । S ।, । S ।,
गिरे चरणों पर थे कपिनाथ, = 12 अक्षर
उठा अपने कर से भुज थाम।
लगा उर से उर को कर प्यार।
मिले कपि नायक से सुख धाम,

12 अक्षर । S ।, । S ।, । S ।, । S । के क्रम से रखे गये हैं।

मन्दाक्रान्ता

अक्षर संख्या 17 को म गण, भ गण, न गण, त गण, त गण दो गुरु क्रम में रखकर मन्द्रक्रान्ता छन्द बनाते हैं। यति 4, 6, 7, अक्षर पर होती। यथा—

S S S S । । । । । S S । S S । S S
दो वंशों में प्रकट करके पावनी लोक लीला। = 17 अक्षर
सौ पुत्रों से अधिक जिनको पुत्रियाँ पुण्यशीला।
त्यागी भी हैं, शरण जिनके जो अनासक्त गेही।
राजा जोगी जय जनक वे पुण्य देही विदेही।

इस प्रकार SSS, S I I, I I I, S S I S S I S S गणों के क्रम से 17 अक्षरों से युक्त यह छन्द मन्दाक्रान्ता है।

शिखरिणी

य गण म गण न गण स गण भ गण तथा अन्त लघु गुरु ये युक्त 17 अक्षरों के छन्द को शिखरिणी कहा गया। इसमे यति छठवें वर्ण पर होती है।

I S S S S S I I I I I S S I I I S
कुचालो ने मारे मनुज मतवाले कर दिये। = 17 अक्षर
कुपंथों में सारे निपट कटुभाषी भर दिये।
हठीले होने को हठ न अगुओं की मति हरे।
हमारे रोने को सुनकर कृपा शंकर करें।

I S S, S S S, I I I, I I S, S I I, I S गणों एवं लघु गुरु से युक्त 17 अक्षरों के छन्द को शिखरिणी माना गया है।

शार्दूलविक्रीडित

19 अक्षरो के म गण, स गण, ज गण, स गण, त गण तथा अन्त में गुरु के विन्यास से शार्दूलविक्रीडित छन्द बनता है। बारहवें अक्षर पर यति होती है। जैसे—

S S S, I I S I S I I I S S S I S S I S
सायंकाल हवा समुद्र तट की आरोग्यकारी यहाँ। = 19 अक्षर
प्राय: शिक्षित सभ्य लोग नित ही जाते इसी से वहाँ।

S S S, I I S, I S I, I I S, S S I S S I, से युक्त 19 अक्षरों का यह छन्द शार्दूलविक्रीडित है।

सवैया

मदिरा

सात भ गण अन्त मे एक गुरु के संयोग से मदिरा सवैया बनता है। यह 'जाति' प्रकृति का छन्द है। यथा—

S I I, S I I, S I I, S I I, S I I, S I I, S I I, S
सिंधु तर्‌यो उनको बनरा तुम पै धनु रेख गई न तरी।
बाँदर बाँधत सो न बंध्यौ उन बारिधि बाँधि के बाट करी।

श्री रघुनाथ प्रताप की बात तुम्हें दस कंठ न जानि परी।
तेलहु तूलहु पूंछ जरी न जरी जरि लंक जराइ जरी।

S I I, S I I, S I I, S I I, S I I, S I I तथा S के कारण यह मदिरा सवैया है इसी की आवृत्ति प्रत्येक चरण में होती।

मत्तगयंद

सात भ कार ग कार उभै तब मत्तगयंद बनै सुख खानी।

अर्थात् 23 अक्षरों से युक्त 'भ गण' एवं अन्त में दो गुरु वाले सवैया को मत्तगयंद कहते हैं। जैसे—

S I I S I I, S I I S I I S I I S I I S I I S S
दूलह श्री रघुनाथ बने दुलही सिय सुन्दर मन्दिर माहीं। = 23 अक्षर
गावति गीत सबै मिलि सुन्दरि वेद जुवा जुरि विप्र पढ़ाहीं।
राम को रूप निहारति जानकी कंगन के नग की परछाहीं।
यातै सबै सुधि भूलि गई कर टेकि रही पल टारति नाहीं।

S I I, S I I, S I I, S I I, S I I, S I I, S I I तथा अन्त में दो गुरु एवं 23 वर्णों के संयोग से मत्तगयंद सवैया बनता है। इसमें 23 वर्ण है। इसी की आवृत्ति प्रत्येक चरण मे होती है।

दुमिल

सगणाष्टक को कहते कवि हैं, अति दुर्लभ दुमिल चन्द्रकला, अर्थात् आठ-सगण से युक्त दुर्मिल सवैया होता है। इसका अपर नाम चन्द्रकला है। इसमें 24 अक्षर होते हैं। उदाहरणार्थ—

I I S I I S I I S I I S I I S I I S I I S I I S
पग नूपुर औ पहुँची कर कजनि मंजु बनी मनि माल हिये। = 24 अक्षर
नव नील कलेवर पीत झगा झलकै पुलकै नृप गोद लिये।
अरविन्द सो आनन्द रूप मरंद अनंदित लोचन भृंग पिये।
मन में न बस्यो अस बालक जो तुलसी जग में फल कौन जिये।

I I S, I I S, I I S, I I S, I I S, I I S, I I S, I I S, एवं 24 अक्षरों के कारण यह दुर्मिल सवैया है। इसी की आवृत्ति प्रत्येक चरण मे होती है।

वर्णिक छन्द (दण्डक)

24 वर्णों से अधिक छद को दण्डक के नाम से पुकारा जाता है। मनहरण, घनाक्षरी एवं कवित्त इसलिए दण्डक के अन्तर्गत स्वीकार किये जाते हैं।

छनाक्षरी (रूप)—अक्षर संख्या 32 के योग में 8, 8, 8, 8 पर यति देकर रूप घनाक्षरी छंद बनाया जाता है। अन्त में, गुरु-लघु होता है।

गोरे गोरे पायँन सों,[8], कढ़ि रही मद मंद,[8]
पायल औ घुंघरू की,[8] रसभरी झनकार।[8] —32 वर्ण
कर बीच कंकन औ कटि बीच किंकनी हूँ,
खनकि उठति संग पूरी करि बार-बार।
धारि जो सतार हाथ पास पास चली जात,
आँगुरी चलाय रह्यो भूमि झनकार तार।
तार धरि तासु अलबेली मृदु तान छाँड़ि,
गाय उठी गीत यह अंग गनि अनुसार।

आठ-आठ की यति पर 32 वर्णों के दण्डक छंद को रूप घनाक्षरी कहते हैं।

देवघनाक्षरी

महाकवि देव ने घनाक्षरी में किंचित् परिवर्तन करके उसे 8, 8, 8, 9 के विराम से तैंतीस वर्णों का उसे बनाया। यही नहीं, अन्त में, न गण सर्वांत लघु (। । ।) की भी योजना दी। यथा—

झिल्ली झनकारैं पिक,[8] चातक पुकारैं बन,[8]
मोरनि गुहारैं उठैं,[8] जुगनू चमकि चमकि।[9]

8, 8, 8, 9 के विराम से तैंतीस वर्ण हैं। अन्त में, सर्वांत लघु है।

मनहरण कवित्त

यही भी दण्डक 'वर्ग' का ही है। 8, 8, 8, 7 की यति पर 31 वर्णों का यह छंद अत्यन्त आकर्षक माना जाता है। आचार्य केशवदास को मनहरण कवित्त अधिक प्रिय रहा है—

हरित हरित हार,[8] हेरत हियो हेरात,[8]
हारी हौं हरिन नैनी,[8] हरि न कहूँ लहौं।[7]
बनमाली ब्रज पर, बरसत बनमाली,
बनमाली दूर दुख, केशव कैसे सहौं।
हृदय कमल नैन, देखि के कमल नैन,
होहुँगी कमल नैनी, और हौं कहा कहौं।
आप घने घनस्याम, घन ही ते होत घन,
सावन के द्यौस घन, स्याम बिनु क्यौं रहौं।

इस प्रकार आठ-आठ, आठ-सात की यति के कारण कवित्त है।

मात्रिक

समछन्द

तोमर—प्रत्येक चरण में 12 मात्राएँ और चरणान्त लघु एवं गुरु होता है। जैसे—

ll lS Sl lSl =12 Sllll ll Sl=12
तब चले बान कराल। फुंकरत जनु बहु काल।
कोपेउ समर श्री राम। चले विसिष निसित निकाम।

इस प्रकार बारह मात्राओं के कारण यह तोमर छन्द है।

चौपई

पन्द्रह मात्राओं के छन्द को चौपाई कहते हैं। अन्त में गुरु लघु का नियम देखा जाता है। यथा—

ll S ll ll lS lSl =15
जिनके बल पर खड़ा समाज। रहती है सुचिता की लाज
15 मात्राएँ तथा अन्त में गुरु लघु है।

चौपाई

कल सोरह जहँ सदा सुहावै। जाके अन्त जता नहिं आवे।
सम, सम विषम विषम सुखदाई। फणपति ताहि कहैं चौपाई।

मात्राएँ सोलह हो, जिनके अन्त मे ज गण एव त गण (lSl, SSl) न हों। यही नहीं, प्रथम तुक सम हो तो दूसरा तुक भी सम हो, यदि प्रथम तुक विषम हो दूसरा भी विषय हो। इस प्रकार के छन्द को चौपाई कहा गया है। जैसे—

Sll llll lll lSS =16
बदहुँ गुरुपद पदुम परागा। सुरुचि सुबास सरस अनुरागा।
अमिय मूरिमय चूरन चारू। समन सकल भवरुज परिवारू।
16 मात्राओं के कारण यह चौपाई छंद है।

अरिल्ल या अडिल्ल

16 मात्राओं के अरिल्ल छद में ज गण (lSl) का निषेध बताया गया है। अन्त में. य गण (lSS) या दो गुरु लघु रहते हैं। यथा—

S S I I I I S I I S I I = 16 मात्राएँ
फूलीकलि तरु फूल बढ़ावत ।
मोह महा मोहत उपजावत ।।

16 मात्रा एवं अन्त में दो लघु के कारण यह अरिल्ल छंद है ।

लावनी (राधिका)

प्रत्येक चरण में 13, 9 के विराम से 22 मात्राओं के छन्द को लावनी कहते हैं । चरण के अन्त में गुरु रहता है । इसी को राधिका छंद भी कहते हैं—

I I S S S I I S I I S S S S = 22 मात्राएँ
उन सीता को निज मूर्तिमती माया को,
प्रणय प्राणा को और कान्त काया को ।
यों देख रहे थे, राम अटल अनुरागी ।
योगी के आगे अलख ज्योति ज्यों जागी ।

22 मात्राओं के कारण यह राधिका या लावनी छन्द है ।

रोला

रोला की चौबीस कला यति ग्यारह, तेरह ।

ग्यारह, तेरह के विराम से रोला में 24 मात्राएँ होती हैं । अन्त में, दो गुरु माना जाता है किन्तु आवश्यक नहीं है ।

I I I S I S I I I S S S I I I I I I = 24 मात्राएँ
त्रिविध रंग की उठति ज्वाल दुर्गंधनि महकति ।
कहुँ चरबी सों चटचटाति कहुँ दह दह दहकति ।

24 मात्राओं का क्रम 11, 13 की यति से रोला छंद का उदाहरण है ।

दिगपाल

12, 12 की यति से 24 मात्रा वाले छंद को दिगपाल कहते हैं । जैसे—

S S I S I S S, I I S I S I I I S 12, 12 = 24
तू ढूंढ़ता मुझे था, जब कुंज और बन में ।
मैं खोजता तुझे था, तब दीन के वतन में ।

12, 12 की यति से 24 मात्राएँ प्राप्त होती हैं ।

रूपमाला

14 तथा 10 की यति से 24 मात्राओं वाले छन्द को रूपमाला कहते हैं। अन्त मे, गुरु लघु के रखने का नियम है—

S I S S S I I I S I S I I S S I
चूमता था भूमितल को, अर्ध विधु-सा भाल।
बिछ रहे थे प्रेम के दृग, जाल बनकर बाल।

24 मात्राओं के इस विन्यास के कारण यह रूपमाला छन्द है।

गीतिका

14, 12 की यति से 26 मात्राओं के छन्द को गीतिका कहते हैं। चरण के अन्त में लघु एवं गुरु का विन्यास आवश्यक है। उदाहरणार्थ—

S SS S I S SS S I I I S S I I = 26 मात्राएँ
हे प्रभो ! आनन्द दाता, ज्ञान हमको दीजिए।
शीघ्र सारे दुर्गणों को दूर हमसे कीजिए।

26 मात्राओ से युक्त यह गीति का छन्द है।

हरिगीतिका

16, 12 की यति से 28 मात्रा वाले छन्द को हरिगीतिका कहते हैं। अन्त मे, लघु-गुरु का नियम आवश्यक है। यथा—

S I I I I I S S S I I I I S I S S S I S = 28 मात्राएँ
मानस भवन में आर्य जन जिसकी उतारे आरती।
भगवान भारतवर्ष में गूँजे हमारी भारती।

28 मात्राओ के संयोग से बना यह हरिगीतिका छन्द है।

ताटंक

16, 14 की यति से 30 मात्रा वाले छन्द को ताटंक कहते हैं। इसमें अनिवार्यत: अन्त मे तीनों गुरु होने चाहिए—

S I I S S I S I S I I I S S I S SS S = 30 मात्राएँ
देव तुम्हारे कई उपासक, कई ढंग से आते हैं।
सेवा में बहुमूल्य भेंट वे कई रंग की लाते हैं।

30 मात्राओं, 16, 14 की यति अन्त तीनों गुरु के कारण यह ताटंक छन्द हैं।

सार

16, 12 की यति से 28 मात्राओ वाले छंद को सार कहते हैं। इसमें अन्त में दो गुरु का नियम आवश्यक है। जैसे—

। S । । । । । S । । । । । । । । S S । । S S = 28
सदा रहति वरषा रितु हम पर, जब तै स्याम सिधारे।
दृग खंजन न रहति निसि बासर कर कपोल भये कारे।

वीर छन्द (आल्हा)

सोरह, पन्द्रह अन्तै गुरु लघु आल्हा छंद रच्यो अभिराम, अर्थात् 16, 15 की यति से 31 मात्राओ वाले छन्द को वीर या आल्हा कहते हैं। गुरु-लघु का अन्त मे आना आवश्यक है।

S । । । S S । S S । S S । । S S । । । । S । = 31 मात्राएँ
दोउ पद धावैं बड़े प्रेम ते स्वामि कृष्ण चन्द्र महराज।
चक्र सुदर्शन लै कर डोलत साधत सन्तन के सब काज।

16, 15 की यति से 31 मात्रा का यह छन्द वीर या आल्हा है।

अर्धसम मात्रिक छन्द

बरवै

19 मात्राओ वाले छन्द को बरवै कहते हैं। प्रथम एवं तृतीय चरण में 12 तथा तृतीय तथा चतुर्थ चरणो में 7 मात्राएँ होती है। सम पादों के अन्त में प्रायः ज गण (। S ।) या त गण (S S ।) पडता है। जैसे—

। S । । । । । । । । । S । । S । = 19 मात्राएँ
जटा मुकुट कर सर धनु, संग मरीच।
चितवनि बसति कनखियनु, अँखियनु बीच।

19 मात्राओं एवं 12, 7 के विराम से यह बरवै छन्द है।

दोहा

यह मात्रा 24 का छन्द है। प्रथम तथा तृतीय पाद मे 13-13 एवं द्वितीय तथा चतुर्थ मे 11-11 मात्राएँ पड़ती हैं। तुक समपादों में मिलता है। यथा—

I S I S I I S I I I S I I I S I S I = 24 मात्राएँ
यथा सुअंजन अंजि दृग, साधक सिद्ध सुजान ।
कौतुक देखत सैल बन, भूतल भूरि निधान ।।

24 मात्राओं तथा 13, 11 के चरणों से युक्त यह दोहा छन्द है ।

सोरठा

दोहा को उलट देने से सोरठा बनता है । इसके विषम पदों में 11-11 तथा सम पदों में 13, 13 मात्राएँ होती हैं । उदाहरणार्थ—

S S I I I I S I I S S I I I S I I I =24 मात्राएँ
बंदौ गुरु पद कंज, कृपा सिन्धु नर रूप हरि ।
महा मोह तम पुंज, जासु बचन रविकर निकर ।।

सम-विषम चरणों में क्रमशः 13 एवं 11 के क्रम में 24 मात्राएँ स्पष्ट हैं ।

उल्लाला

यह 28 मात्राओं का छन्द हैं । इसके विषम चरणों में 15 तथा सम चरणों में 13 मात्राएँ रहती हैं । जैसे—

S I I I S I S S I S I I S I I S S I S =28 मात्राएँ
हे शरणदायिनी देवि तू, करती सबका त्राण है ।
हे मातृ भूमि ! संतान हम, तू जननी तू प्राण है ।

28 मात्रा का सम चरण में 13 तथा विषम में 15 का विधान द्रष्टव्य है ।

विषम मात्रिक छन्द

ये न सम की ही भाँति है और न अर्धसम की भाँति, इसलिए इन्हें विषम मात्रिक छन्द कहा जाता हैं । कुंडलिया, छप्पय आदि इसके अन्तर्गत आते हैं ।

कुंडलिया

यह रोला तथा दोहा छन्दों के योग से बनाया जाता है । दोहे के चौथे चरण को रोला के प्रथम चरण में रखकर दुहराया जाता है । दोहे का प्रथम चरण ही रोला के अन्त में रखा जाता है । यथा—

गुन के गाहक सहस नर, बिनु गुन लहै न कोय ।
जैसे कागा कोकिला, सब्द सुनै सब कोय ।
सब्द सुनै सब कोय, कोकिला सबै सुहावन ।

दोऊ को इक रंग, काग सब भये अपावन।
कह गिरिधर कविराय, सुनो हो ठाकुर मनके।
बिनु गुन लहै न कोय, सरस नर गाहक गुन के।

छप्पय

यह रोला तथा उल्लाला के संयोग से बनाया जाता है। दो रोला तथा अन्त मे एक उल्लाला छन्द मिलकर इसे पूर्ण बनाता है। यथा—

नीलाम्बर परिधान 'हरित तट पर सुन्दर है।
सूर्य चन्द्र युग मुकुट मेखला रत्नाकर है।
नदियाँ प्रेम प्रवाह फूल तारे मण्डन हैं। दो रोला
बन्दी विविध विहंग शेषफन 'सिंहासन है।
करते अभिषेक पयोद है, बलिहारी इस वेष की। एक उल्लाला
हे मातृभूमि ! तू सत्य ही, सगुण मूर्ति सर्वेश की।

मुक्त छन्द एवं छन्द मुक्ति

मुक्त छन्द का प्रारम्भिक रूप भारतीय वाङ्मय में बंग साहित्य के अन्तर्गत दिखाई पड़ता है और धीरे-धीरे वहाँ मुक्त छन्द रचना की प्रवृत्ति विकसित हुई। अंग्रेजी साहित्य मे बलैंक वर्स के रूप मे स्वीकृत मुक्त छन्द जैसी व्यवस्था का प्रारम्भ हिन्दी मे छायावाद युग मे हुआ। हिन्दी मे छायावाद ने छन्द व्यवस्था को फिर से सोचने का कार्य किया क्योंकि परम्परित छन्द व्यवस्था हिन्दी खड़ी बोली काव्यभाषा की प्रकृति के अनुकूल नही है। खडी बोली के लिए छन्द व्यवस्था क्या है, इसकी चिन्ता द्विवेदी युग में दिखाई पड़ती है और स्वयं पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी ने संस्कृति के गणप्रधान छन्दों को हिन्दी मे ले आने का आग्रह किया। हरिऔध आदि कवियो ने इस दिशा में प्रयास अवश्य किया किन्तु हिन्दी खडी बोली की भाषिक प्रवृत्ति की लयवृत्ति इसमें बाधक रही है। संस्कृत सामासिक भाषारूप से सम्बद्ध है अत: गणविधान की संगति उसके साथ बैठ जाती है किन्तु हिन्दी खडी बोली असमासप्रधान भाषा है और इसकी प्रवृत्ति वितरणात्मक है, इसलिए गण-प्रधान छन्द इसके लिए उपयोगी नही सिद्ध हुए। यही स्थिति, मात्रा प्रधान छन्दो को भी मिलती है। यह ब्रजभाषा की प्रवृत्ति के अनुकूल अवश्य है किन्तु खडी बोली के नही। हिन्दी खड़ी बोली मे समृद्ध गद्य आ जाने के कारण उसकी आन्तरिक भाषिक लय मे और अधिक बिखराव आया और यही कारण है कि खड़ी बोली काव्य रचना के लिए मात्राविधान और गणविधान के छन्द मानक छोटे पड़ने लगे। पन्त जी ने सर्वप्रथम पल्लव की भूमिका में परम्परित छन्दो की असमर्थता की बात इंगित की

और इसके बाद निराला की "जूही की कली" प्रकाशित हुई। उन्होंने इस समस्या पर विस्तारपूर्वक चर्चा की। यह सत्य है कि जयशंकर प्रसाद जी भी परम्परित छन्दों में मुक्ति की दृष्टि अपनी कई रचनाओं में करते हैं किन्तु इसका समग्र श्रेय पण्डित सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला जी को मिलता है। नई कविता के प्रारम्भ होने पर इस छन्दमुक्ति के प्रश्न को एक अहम् सवाल बनाया गया और अज्ञेय, डॉ० जगदीश गुप्त, डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी आदि ने परम्परित छन्द व्यवस्था से मुक्ति लेने एवं छन्द के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किए।

मुक्त छन्द मूलतः परम्परित छन्दों से मुक्ति लेने के प्रयास से ही जुड़ा है। छन्द मुक्ति एक आन्दोलन है जबकि मुक्त छन्द एक व्यवस्था। छन्दमुक्ति आन्दोलन के पीछे यह अवधारणा निहित है कि परम्परित छन्द व्यवस्था में समग्र अर्थाभिव्यक्ति की सामर्थ्य नहीं रह सकती है कि समसामयिक विकसित सामाजिक चिन्तन एवं वैज्ञानिक समझ के यथार्थ को पूरी तरह से आत्मसात कराने में सक्षम हो सके। यति, गति, मात्रा, तुक चरण आदि की उनकी व्यवस्था आज के वैचारिक एवं बौद्धिक सम्प्रेषण के सन्दर्भ में बौने हो चुके हैं। यही नहीं, हिन्दी खड़ी बोली के स्वरूप विकास के साथ-साथ उसकी विकसित भाषिक लय का आधार बनने की भी उसकी शक्ति एवं सामर्थ्य समाप्त हो चुकी है और ऐसी स्थिति में परम्परित छन्द व्यवस्था से मुक्ति लेने के अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं है। इस विकल्प की खोज में जिस छन्द व्यवस्था को प्रारम्भ में प्रतिष्ठित किया गया उसे मुक्त छन्द के नाम से पुकारा जाता है। इस प्रकार परम्परित छन्द व्यवस्था से मुक्ति लेकर हमने "मुक्त छन्द" का श्री गणेश आधुनिक हिन्दी खड़ी बोली के छायावाद युग में किया, इस मुक्त छन्द के अर्थ शताब्दी के इतिहास क्रम को मुक्त छन्द के प्रकाश में इस प्रकार देख सकते हैं।

छायावाद और मुक्त छन्द—मुक्त छन्द को स्वच्छन्द छन्द के नाम से विवेचित करते हुए सुमित्रानन्दन पंत ने इसका प्रारम्भ सन् 1921 अपनी उच्छ्वास शीर्षक कविता से बताया है। उन्होंने इस सम्बन्ध में बताया है कि **"स्वच्छन्द छन्द दीर्घ मात्रिक सगीत पर चल सकने वाली"** काव्य व्यवस्था है। निराला जी इसे अस्वीकार करते हैं, उसके अनुसार स्वच्छन्द छन्द में नहीं मिल सकता, वही है। वह स्वर-प्रधान नहीं है, व्यंजनप्रधान है। उसका सौन्दर्य गाने में नहीं, वार्तालाप करने में है और उनके अनुसार "जूही की कली" इसका प्रथम उदाहरण है, जिसकी रचना, सन् 1922 ई० में हुई। निराला जी स्पष्ट रूप से मानते हैं कि अतुकान्त छन्द व्यवस्था मुक्त छन्द नहीं है कारण कि अतुकान्त छन्द व्यवस्था में मात्राविधान निश्चित होता है किन्तु "मुक्त छन्द" में निश्चित मात्राविधान नहीं है। हरिऔध, जयशंकर प्रसाद जी की अतुकान्त रचनाओं को मुक्त या स्वच्छन्द छन्द इसलिए

नही कहा जा सकता क्योंकि उनमें निश्चित प्रकार का मात्राविधान क्रम दृष्टिगत होता है। निराला जी ने परिमल की भूमिका में स्वच्छन्द छन्द के लक्षण की ओर स्पष्ट निर्देश किया है "गणवृत्तो मे गणों की शृंखला, मात्रिक वृत्तो मे मात्राओ का साम्य, वर्णवृत्तो मे अक्षरों की समानता मिलती है, इस प्रकार दृढ़ नियमों से बँधी हुई कविता कदापि मुक्त छन्द नही है।" इस प्रकार वर्ण गण एवं मात्राविधान से मुक्त लयात्मक व्यवस्था पर आधारित भाषिक रचना स्वच्छन्द छन्द है। गद्य मे भी लय है किन्तु उसे गढा नही जाता। उसमें आरोह-अवरोह नही है। उसमे बलाघात् तथा स्वरसंधानवृत्ति नहीं है। गद्य जैसी रचना दिखाई पडने वाले स्वच्छन्द छन्द मे एक रचा हुआ स्वतन्त्र लयात्मक विधान है। एक विशेष प्रकार के तनाव की मनः दशा तथा विशेष प्रकार के स्वराघातो, आरोह-अवरोहो से युक्त एक भाषिक शिल्प दृष्टि है। छायावाद युग के अन्त तक अर्थ रचना एवं खड़ी बोली की भाषिक लयात्मकता को आत्मसात करके मुक्त छन्द की एक निश्चित व्यवस्था प्रकाश मे आई।

प्रयोगवाद तथा नई कविता तथा छन्दमुक्ति और मुक्त छन्द—छन्दमुक्ति के आन्दोलन को नई कविता में इसलिए विशेष रूप से इंगित किया गया ताकि पुरानी कविता को स्पष्टतापूर्वक पहचाना जा सके। इस सन्दर्भ में तीन प्रश्न विशेष रूप से उठाये गये—

(1) समसामयिक यथार्थबोध को ईमानदारी से अभिव्यक्त करने की निष्ठा और इसमें निहित मानसिक तनाव की छन्द रचना का आधार है।

(2) भावातिरेक के स्थान पर बौद्धिकता जिसमें अर्थ लय का विशेष महत्त्वपूर्ण माना गया।

(3) विद्रूपताओं एवं विसंगतियों का तद्वत चित्रण जिसमे विसंगति को ही छन्द का आधार बनाया गया। इस प्रकार प्रयोगवाद तथा नई कविता के सन्दर्भ में मानसिक तनाव, विसंगति एवं अर्थ लय परस्परित छन्दमुक्ति के कारण छन्द रचना के निर्माण के आधार को इस प्रकार भाषा की आन्तरिक लय का निर्धारक तत्त्व सामाजिक परिस्थिति तथा व्यक्तित्व तनाव की अनुभूति है जो रचना के क्षणो में भाषिक अभिव्यक्त के रूप में प्रगट होती है।

अर्थलय—अर्थ लय का तात्पर्य है काव्य मे अर्थ की आन्तरिक संगति। भारतीय काव्यशास्त्र में आचार्य वामन एवं भोज ने अर्थ गुणो पर विचार किया है। इसके अन्तर्गत आन्तरिक भाषिक प्रवाह के भौतिक रूप के विवेचन के साथ-साथ विस्तारपूर्वक अर्थ के भी भौतिक स्वरूप की भी चर्चा की है। वामन के अनुसार अर्थगुण 10 हैं, जैसे तुरन्त प्रभावित करने की शक्ति से युक्त अर्थ, मनः प्रासादिकता से युक्त अर्थ, नर्तन-सा करता हुआ अर्थ आदि। किन्तु नई कविता

की आन्तरिक छन्द विषयक लय व्यवस्था की चर्चा करते समय इस अर्थ लय का बराबर विवेचन किया गया है और अर्थ लय की परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है। रचना में अर्थ की वह प्रसरण शक्ति जो परस्पर भाविक सन्दर्भ के साथ मिलकर मन को उद्वेगपूर्ण बनाती है। नई कविता के सन्दर्भ में इसकी व्याख्या अनेक रूपों में हुई है। एक स्थल पर बताया गया है कि काव्यार्थ की वह शक्ति जो अपने प्रभाव से अपने सहभोगी, सदृश, विपरीत, विरोधी जैसे अर्थों को मन में स्वतः जागृत करने के लिए प्रेरित करे, अर्थ लय है। उदाहरण के लिए मेज का नाम लेते ही कुर्सी स्वतः मन में उपस्थित होती है। अमृत के साथ विष शब्दार्थ अकस्मात् मन को उद्वेलित करता है।

●

13

भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों की तुलना

भारतीय एवं पाश्चात्य सैद्धान्तिक चिन्तनों में दृष्टिकोणगत वैषम्य—भारतीय एव पाश्चात्य काव्यशास्त्रों के तुलनात्मक अध्ययन के पूर्व इस तथ्य को अच्छी तरह से ध्यान में रख लेना चाहिये कि इन दोनों साहित्य सिद्धान्तों के मौलिक दृष्टिकोण में पर्याप्त वैषम्य है। भारतीय चिन्तन में काव्य को शास्त्र बनाने के मूल मे लक्ष्य यह था कि काव्य की समग्र व्यवस्था का व्यापक तथा सार्वभौम चिन्तन किया जा सके। काव्य के उन मूलभूत तत्त्वो की खोज तथा पहचान इसका मूल प्रयोजन है। यहाँ काव्य का अर्थ उस शब्दार्थमयी कला से है, जिसे कवि प्रतिभा तथा कल्पना के सहयोग से रचता है। यह कविता, भाषा, देश, कालातीत है। यह कविता केवल कविता है। यह चाहे यूरोप की हो या एशिया की कविता, भारत की हो या भारतीयेतर, चाहे संस्कृत भाषा की हो चाहे ग्रीक, लैटिन की। भारतीय काव्यशास्त्र में जब कविता की चर्चा की जाती है तो उसका अर्थ सम्पूर्ण सम्बन्धो से विरहित केवल निरपेक्ष कविता ही है, वह किसी जाति, भाषा, काल की कविता नही है। इसीलिए भारतीय काव्यशास्त्र के अन्तर्गत तुलनात्मक दृष्टिकोण को प्रारम्भ करने के पूर्व इस दृष्टिकोण को समझ लेना चाहिये कि यहाँ "कविता" सम्बन्धी सिद्धान्तो के अन्तर्गत उसके मूलाधार तथा सनातन सत्य को प्रतिष्ठित करने की व्यवस्था की गई है। कविता के इस सनातन सत्य को प्रतिष्ठित करने की दृष्टि के परिणामस्वरूप काव्य चिन्तन को निम्नलिखित भागों में विभक्त किया गया—

(क) काव्य की समस्याएँ

(1) रचनाकार की कारयित्री प्रतिभा अर्थात् काव्य हेतु

(2) कविता का लक्ष्य-प्रयोजन

(3) कविता की परिभाषा या पहचान
(5) कविता की निष्पत्ति
(5) काव्य रचना के अन्य बाह्य तत्त्व

(ख) काव्य रचना-तत्त्व

(1) शब्द रचना तत्त्व—गुण तत्त्व
(2) शिल्प रचना तत्त्व—रीति तत्त्व
(3) अर्थ रचना तत्त्व—अलंकार, अभिधा, लक्षणा, व्यंजना
(4) प्रभाव रचना तत्त्व—ध्वनि
(5) कलाभंगिमा रचना तत्त्व—वक्रोक्ति
पाठक एवं काव्य—रस तत्त्व
काव्य शरीर का निर्माण—लय तथा छन्द शास्त्र

काव्य तथा अभिनय

नाट्यशास्त्र—इस प्रकार भारतीय काव्यशास्त्र के अंतर्गत एक व्यवस्थित, व्यापक, सार्वभौम एवं समग्र प्रामाणिक काव्यसिद्धान्तों के सत्य को साक्षात्कृत करके उन्हें प्रतिष्ठित करने की कोशिश की गई जो भाषा, जाति, देश, काल धर्म से ऊपर उठकर सनातन सत्य के रूप में प्रतिष्ठित है। यह समग्र चिन्तन ई० पू० प्रथम शती से प्रारम्भ होकर 16 शती तक व्यवस्थित, क्रमबद्ध एवं उत्तरोत्तर समविकास चिन्तन के रूप मे पल्लवित होता रहा है, किन्तु पाश्चात्य विशेष रूप से ग्रीक, लैटिन एव बाद में चलकर अंग्रेजी साहित्य के अन्तर्गत निर्दिष्ट इसका प्राचीन वैदुष्य अपेक्षाकृत सीमित अवधारणाओ एवं उनकी अपनी जातीय समस्याओ से सम्बद्ध काव्यो तक ही सीमित रहा है। प्रारम्भिक चिन्तको में अरस्तू, प्लेटो, होरेस, लोंजाइनस आदि के काव्य सिद्धान्त उस युग की प्रसिद्ध गाथात्मक कृतियो एवं ट्रैजडीयुक्त नाट्यकृतियो तक ही प्रायः सीमित है। यह सत्य है कि इनमें भी ट्रैजडी विरेचन, उदात्त जैसे सिद्धान्त काव्य कला की सार्वभौम प्रवृत्ति की ओर निर्देश करते हैं फिर भी, उनमे चिन्तनगत व्यापक लक्षणधर्मिता नहीं आ पाई है, जो भारतीय काव्यशास्त्रीय चिन्तन में है। पाश्चात्य काव्य सिद्धान्त चिन्तन का विकसित पक्ष मध्यकाल से शुरु होता है। आधुनिक काल तक इसके अन्तर्गत अनेक मौलिक प्रश्न उठाए गए और उनमें आशिक सार्वभौमिकता के लक्षण भी हैं। निम्नलिखित सिद्धान्त इस दृष्टि से विशेष रूप से विचारित है—

(1) क्रोचे का अभिव्यंजनावाद
(2) क्लेसिक कविता के सिद्धान्त, कला कला के लिए (कविता कविता के लिए।

(3) रोमांटिक कविता के सिद्धान्त
(4) परम्परा, वैयक्तिकता और कविता
(5) कविता और मूल सिद्धान्त
(6) काव्यभाषा तथा शैली विज्ञान।

यही नही, आधुनिक काल में विविध दार्शनिक तथा सामाजिक चिन्तनो के परिवेश में भी कविता को विवेचित करने की चेष्टा की गई है—मार्क्सवाद यथार्थ एवं नग्न यथार्थवाद, पूँजीवाद, विज्ञानवाद, अस्तित्ववाद आदि। इसके अतिरिक्त कविता के शिल्प तथा ढांचे को समझने के लिए भी आधुनिक युग मे काव्य संरचनावाद आदि अनेक सैद्धान्तिक तत्वो की चर्चा की जा रही है। इन सम्पूर्ण रचनातन्त्र की एक स्पष्ट तथा सार्वभौमिक या स्थायी व्याख्या दी जा सके और उसकी रचनाधर्मिता को भलीभांति विवेचन किया जा सके, लेकिन भारतीय काव्यशास्त्र ने प्रारम्भ से ही काव्य के सार्वभौम सत्य को स्थापित करने की कोशिश की है। यह सत्य कि उनका प्रयास कविता के निहित सनातन सत्य को अन्वेषित करने में लगा रहा है किन्तु धीरे-धीरे यह चिंतन रूढ एवं अंतर्मुखी होता गया और कृषि की तात्कालिक सर्जनशीलता से उसका साथ छूटता गया। पाश्चात्य सैद्धांतिक चिंतन की सबसे बड़ी विशेषता है, सिद्धांतों का रचना की सर्जनशीलता से निरन्तर जुड़े रहना। भारतीय काव्यशास्त्र की विशेषता व्यावहारिक समीक्षा से थोड़ा हटकर ऐसे सिद्धांतो के अन्वेषण से है जिसमें कोई भी रचना समाहित हो सकती है। एक सिद्धात बनाकर फिर रचना को उस पर कसने का प्रयास है किन्तु पाश्चात्य सिद्धान्त मे मध्यकाल से अब तक एक भिन्न दृष्टिकोण है, "कृति में निहित उसकी सृजनशीलता को अन्वेषित करके उसे विवेचित करना।" भारतीय काव्यशास्त्र की पद्धति आगमनात्मक एवं आरोपित है। पाश्चात्य काव्यचिंतन निगमात्मक एवं व्यावहारिक है। पाश्चात्य काव्यचिंतन सृजनशीलता एवं कवि व्यक्तित्व तथा उसकी निजता को प्रोत्साहित करता है, दूसरी ओर भारतीय काव्य-शास्त्र सैद्धांतिक दृष्टिकोण का निर्माण करके उसके अन्तर्गत रचना को सन्निविष्ट कराने की दृष्टि रखता है। हिन्दी के समग्र रीति काल का निर्माण इसी दृष्टिकोण के अंतर्गत हुआ। इस प्रकार भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यसिद्धांतो की तुलना करने पर उनके दृष्टिकोण एवं स्वभाव मे बुनियादी अतर दिखाई पड़ता है। यह सत्य है कि भारतीय काव्यशास्त्र मे चिंतनगत विस्तार अधिक है क्योंकि यहाँ चिंतन-से-चिंतन की ओर आगे बढने का एक दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से सामने आता है। पाश्चात्य काव्य चिंतन में सैद्धांतिक विस्तार अधिक नही है क्योंकि वहाँ काव्य ही चिंतन को विकसित करने का आधार रहा है और समग्र चिंतन रचनात्मक साहित्य में निहित मानको के अनुसार बने, इसीलिए रचनात्मक साहित्य की उत्तरो-

स्तर समृद्धि के कारण पाश्चात्य चिन्तन समृद्ध होता गया किन्तु भारतीय काव्यशास्त्र अपनी चिंतन की सैद्धांतिक पराकाष्ठा को प्राप्त होने के पश्चात् पुनरावृत्त होता-होता जड़ता की स्थिति तक पहुँच गया। तुलनात्मक दृष्टि से दोनो से यह बहुत बड़ा अन्तर है।

भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य चिंतन में दृष्टिकोणगत साम्य—नाटक के विषय मे भारतीय एवं पाश्चात्य दृष्टिकोण मे पर्याप्त साम्य दृष्टिगत होता है। अरस्तू ने अनुकरण को ही दुखान्तकी माना है। आचार्य धनिक धनञ्जय ने भी "अवस्थानुकृति नाट्यम्" कहा है। अरस्तू का विरेचन सिद्धात आचार्य भरत के श्रम परिहार सिद्धात के समानान्तर है। सामान्य जनों को श्रम एवं शोकार्त से मुक्त करने का नाटक एक विशेष समाधान है। लोजाइनस का उदात्त तत्त्व जैसा सिद्धात भामह एव दण्डी द्वारा प्रस्तुत किया गया है। श्रेष्ठता तथा कलात्मक भव्यता जिसके कारण कृति सामान्य जन को आकर्षित करती हुई स्वयं अपनी श्रेष्ठता को इंगित करती है, इस प्रकार का सिद्धान्त आचार्य दण्डी ने गुण समृद्धि एवं भामह ने अलंकार समृद्धि के माध्यम से निर्दिष्ट किया। "क्लैसिक" सिद्धातो की आधारभूमि भारतीय काव्यशास्त्रीय चिन्तन ही रहा है। इसके अन्तर्गत कलात्मक सम्प्रभुता, अलंकरण आदि सिद्धान्तों की जो व्यापक तथा विशद चर्चा भारतीय काव्यचिन्तन में मिलती है, प्रायः उसके मन्तव्यो से पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय चिन्तन भी जुड़ा हुआ है। क्रोचे ने जिस निःसंग अभिव्यक्ति का प्रश्न अभिव्यंजनावाद में उठाया है, उससे सम्बद्ध अनेक अवधारणाएँ ध्वनि वक्रोक्ति एव रस सिद्धातो में मिल जाती है। प्रतिभा तथा मौलिकता का प्रश्न पाश्चात्य चिन्तन की भाँति भारतीय काव्यशास्त्र के अन्तर्गत समान रूप से उठाया गया है। कविता का प्रयोजन तथा परिभाषा ये दो प्रश्न दोनो चिन्तनों में उठाये गये हैं जिनमें अन्तर इतना है कि भारतीय दृष्टिकोण के अन्तर्गत कविता की कलाधर्मिता को सर्वोच्च अवधारणा से जोड़ा गया है किन्तु पाश्चात्य चिन्तन में वैयक्तिक या सामाजिक अवधारणाओं से। आधुनिक काव्य चिन्तन की कई समस्याएँ भारतीय काव्यशास्त्र मे वर्तमान हैं, यथा—सम्प्रेषणीयता का सिद्धात, काव्य शैली तत्त्व, काव्यभाषा की समस्याएँ, कविता और पाठक की समस्याएँ आदि। आज पाश्चात्य साहित्य के महत्त्वपूर्ण चिन्तनों की बीजभूमि भारतीय काव्यशास्त्र मे इसलिए मिलती है कि यह काव्य के सार्वभौम सत्य को स्थापित करने का एक व्यवस्थित प्रयास था।

संक्षेप में भारतीय तथा पाश्चात्य शास्त्र के तुलनात्मक दृष्टिकोण को यदि रखना चाहें तो उसके मुख्य बिन्दु इस प्रकार हैं—

(1) भारतीय काव्यशास्त्र सैद्धान्तिक चिन्तन मात्र है जबकि प्रायः पाश्चात्य काव्य चिन्तन का मूल स्रोत व्यावहारिक समीक्षा से जुड़ा है।

(2) भारतीय काव्य चिंतन रचना के अन्तवर्ती एवं बाह्य रूप मे वर्तमान तत्वों की सांगोपांग व्याख्या करता है। पाश्चात्य चिंतन इस दृष्टि से एकांगी और सम्पूर्ण चिंतनों का विकास मूलत: काव्य सम्बन्धी समझ के साथ धीरे-धीरे हुआ।

(3) भारतीय काव्यशास्त्र काव्य रचना के मूलाधार को अन्वेषित करने मे तत्पर है और उसमें काव्य रचना के वे मूलभूत तत्व जिसके अभाव में कवितात्व सम्भव नही है, को अन्वेषित करने का दृष्टिकोण दिखाई पड़ता है। यही नहीं, इसमें कविता की समग्रता भी इसी दृष्टि से सम्बद्ध है किन्तु पाश्चात्य काव्यचिन्तन मे समग्रता के स्तर पर काव्यरचना के मूलाधार को खोजने की दृष्टि आधुनिक काल में विकसित अवश्य हो रही है किन्तु इसके पूर्व ऐसी कोई दृष्टि नहीं मिलती।

(4) रचनाविधान की सैद्धांतिक सघनता एवं गहराई मे जाकर उसके सूक्ष्म-से-सूक्ष्म व्यापार को उद्घाटित करने की दृष्टि भारतीय काव्यशास्त्र मे मिलती है, किन्तु पाश्चात्य साहित्य में ऐसी कोई चिन्तन दृष्टि नही मिलती।

(5) सम्प्रेषण आस्वादन तथा कला के भावात्मक मनोविज्ञान की सूक्ष्मतम एव प्रमाणिक व्याख्या भारतीय काव्यशास्त्र में सहस्राब्दियो से चली आ रही है किन्तु पाश्चात्य काव्यचिन्तन में ऐसा कुछ भी नही है।

(6) कविता की कलात्मक निष्पत्ति के रूप मे जो सूक्ष्म व्याख्या भारतीय काव्यशास्त्र मे प्राप्त है, पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में उस दिशा में थोड़ा बहुत प्रयास किया गया है किन्तु विशेष महत्त्वपूर्ण नही है।

पाश्चात्य काव्यचिन्तन के अन्तर्गत भी अनेक ऐसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं जिनका भारतीय काव्यशास्त्रीय चिन्तन मे अभाव पाया जाता है, कुछ प्रमुख बिन्दु इस प्रकार हैं—

(1) सृजनकर्ता अर्थात् कवि के सृजन पक्ष की मौलिकता, उसकी निरपेक्षता उसके सर्वथा निजी व्यक्तित्वधर्मिता की चर्चा भारतीय काव्यशास्त्र में नही मिलती, कारण कि इस वस्तुनिष्ठ शास्त्रीय चिन्तन ने रचना में कवि व्यक्तित्व को नकारा है, किसी कवि का कोई जीवन परिचय नहीं है, उनकी अपनी पीड़ा और विगलन नहीं है, प्रकारान्तर भाव से भारतीय वाङ्मय मे विषयिनिष्ठ भाव से कविता के सृजन पक्ष को कुण्ठित करने का कार्य भारतीय काव्यशास्त्र के वस्तुनिष्ठ चिन्तन ने किया। हर्षचरित आदि जैसी एकाध रचना चाहे भले ही प्राप्त हो जाएँ किन्तु भारतीय काव्यशास्त्र रचना मे वैयक्तिकधर्मिता की ओर प्रोत्साहित नहीं करता जबकि पाश्चात्य चिन्तन में इस प्रकार के दृष्टिकोण विवेचित मिलते है। व्यक्ति-वादी रचनात्मक चिन्तन का भारतीय काव्यशास्त्र मे नितान्त अभाव है।

(2) भारतीय काव्यशास्त्र में सामाजिक जीवन मूल्यों को विशेष महत्त्व नहीं दिया गया निरपेक्ष काव्यमूल्य इसके विवेचन के मुख्य बिन्दु रहे और इस

प्रकार कविता में विविध सामाजिक मूल्यों की अभिव्यक्ति एवं सृजन के स्तर पर प्रतिष्ठित उनकी अनिवार्यता की सिद्धान्तगत व्याख्या भारतीय काव्यशास्त्र में नही मिलती। केवल "शिवेतररक्षतये" या "कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे" मात्र कह देने से यह दायित्व पूरा नही हो जाता।

(3) वर्तमान सामाजिक रचना के प्रकाश में मानवीय रुचियों के बदलाव तथा विकास से जुड़े हुए अधुनातन साहित्य के अनेक मूल्य भारतीय काव्यशास्त्र में विवेचित नही है। "कल्पना" को आधुनिक रचना में महत्त्वपूर्ण माना गया है। रूढ़ियों के बदलाव एवं विचलन आज रचना की सबसे बड़ी समस्या है जो भारतीय काव्यचिन्तन के परिधि के बाहर की बात है। केवल "कारयित्री" प्रतिभा कहकर कल्पना सिद्धान्त का विवेचन नही किया जा सकता।

